कल्याण
वर्ष ३३
अङ्क १

रघुपति राघव राजा राम । पतित-पावन सीताराम ॥
जय जय दुर्गा जय मा तारा । जय गणेश जय शुभ-आगारा ॥

विषय-सूची

कल्याण, सौर आश्विन २०१६, सितम्बर १९५९

विषय	पृष्ठ-संख्या
१–भगवान्‌की तीन विभूतियाँ—बृहस्पति, स्कन्द, समुद्र [कविता] (गीता १०। २४ के आधारपर) ···	११५३
२–कल्याण ('शिव') ···	११५४
३–ज्ञानोत्तर जीवन-निर्वाह (स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज) ···	११५५
४–स्वर्गसुखभोग अनित्य है (अनन्तश्रीविभूषित श्रीशङ्करस्वामीजी श्रीशङ्करतीर्थजी महाराज) ···	११५७
५–अब मेरा जीवन भगवान्‌के दिव्य सद्गुणोंसे भर गया है ···	११६४
६–साधन तेज न होनेमें अश्रद्धा ही प्रधान कारण है (श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका) ···	११६५
७–भगवान्‌के नाते सब जीवोंके प्रति प्रेम और आत्मीयतासे मेरा हृदय भर गया है ···	११७२
८–भजनमें सफलता क्यों नहीं मिलती ? (स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज) ···	११७३
९–कठिनाइयोंका सामना करो [कविता]	११७४
१०–ईश्वरकी प्रार्थना (डा० श्रीमङ्गलदेवजी शास्त्री, एम्० ए०, डी० फिल्०) ···	११७५
११–अहङ्कार (श्रीगोपालचन्द्रजी चक्रवर्ती, वेदान्त शास्त्री) ···	११७६
१२–प्राणीका अहङ्कार (पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा) ···	११७८
१३–मधुर ···	११८०
१४–आज मेरा जीवन पूर्णरूपसे भगवान्‌का ही हो गया है ···	११८१
१५–मानस-रामायण [कविता] (डा० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र, एम्० ए०, डी० लिट्०) ···	११८२
१६–सुधामयी कृष्ण-पद-रति [कविता] ···	११८५
१७–साधकके उद्गार ···	११८६
१८–मेरे प्रत्येक श्वासमें भगवान्‌का प्यार भर गया है ···	११८७
१९–मेरा 'अहं' बोलता है (प० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट) ···	११८८
२०–महासती सावित्री (श्रीकृष्णगोपालजी माथुर) ···	११९०
२१–श्याम-विरहीकी दशा [कविता] ···	११९३
२२–रोग, ऋण और शत्रु—इनसे फौरन निपटिये (श्रीविश्वामित्रजी वर्मा) ···	११९४
२३–भक्ति-मूल—विश्वास [कहानी] (श्री'चक्र')	११९८
२४–पीपलका चमत्कार (भक्त श्रीरामशरणदासजी)	१२०१
२५–हरि ही सौं लौ लागी ···	१२०३
२६–कामके पत्र ···	१२०४
२७–दान दो [कविता] ···	१२०७
२८–निन्दा महापाप (श्रीअगरचन्दजी नाहटा)	१२०८
२९–प्रेम, सौन्दर्य, आनन्दकी सरिता ···	१२१०
३०–पढ़ो, समझो और करो ···	१२११

चित्र-सूची

१–गायोंसे घिरे गोपराजकुमार रेखाचित्र— ···	मुखपृष्ठ
२–भगवान्‌की तीन विभूति—बृहस्पति, स्कन्द और समुद्र (तिरंगा) ···	११५३

वार्षिक मूल्य भारतमें ७॥) विदेशमें १०) (१५ शिलिंग)

जय पावक रवि चन्द्र जयति जय । सत चित आनँद भूमा जय जय ॥
जय जय विश्वरूप हरि जय । जय हर अखिलात्मन् जय जय ॥
जय विराट जय जगत्पते । गौरीपति जय रमापते ॥

साधारण प्रति भारतमें ।≶) विदेशमें ॥–) (१० पेंस)

सम्पादक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, चिम्मनलाल गोस्वामी, एम्० ए०, शास्त्री
मुद्रक-प्रकाशक—हनुमानप्रसाद पोद्दार, गीताप्रेस, गोरखपुर

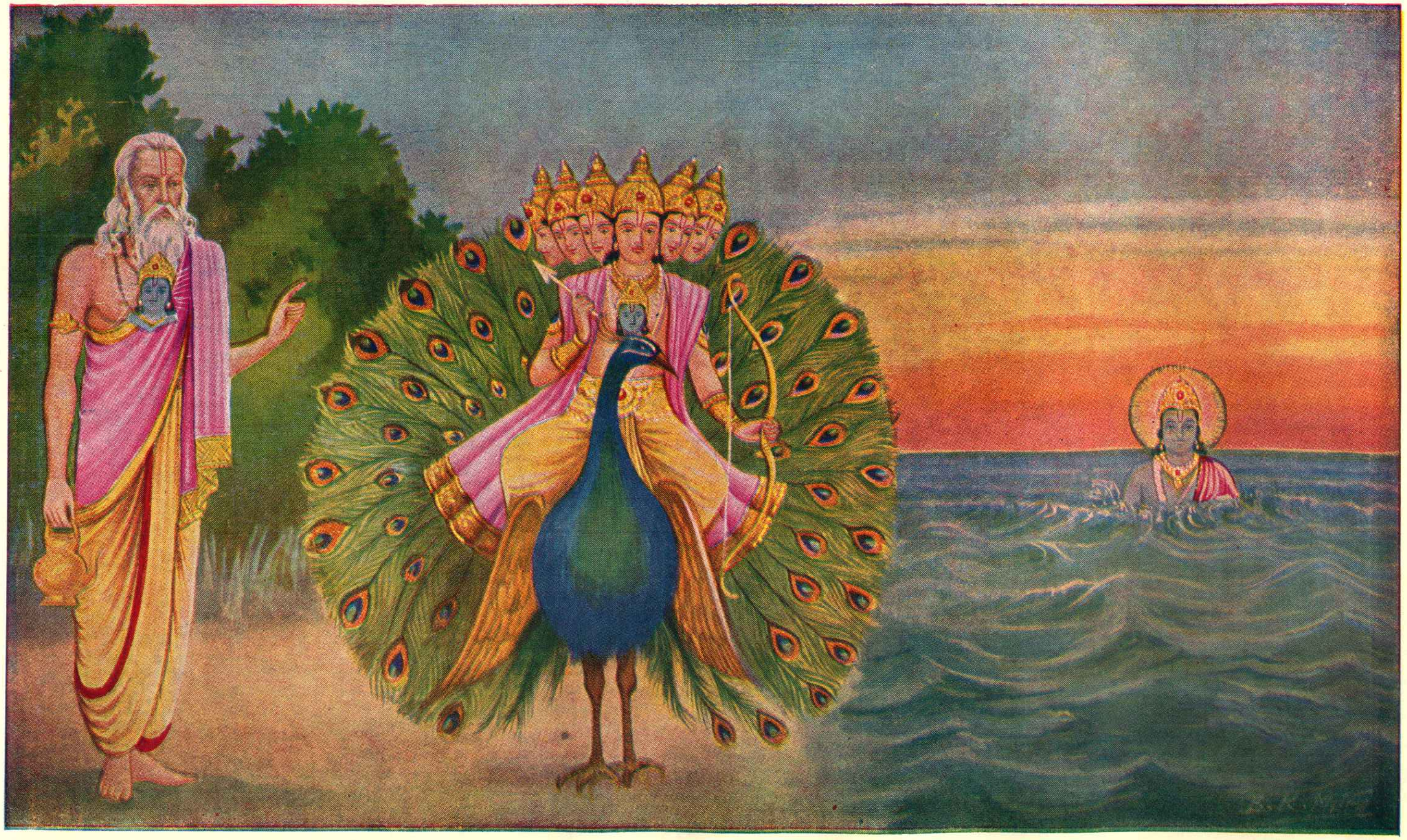

भगवान्‌की तीन विभूति—बृहस्पति, स्कन्द और समुद्र

ॐ पूर्णमदः पूर्णमिदं पूर्णात् पूर्णमुदच्यते । पूर्णस्य पूर्णमादाय पूर्णमेवावशिष्यते ॥

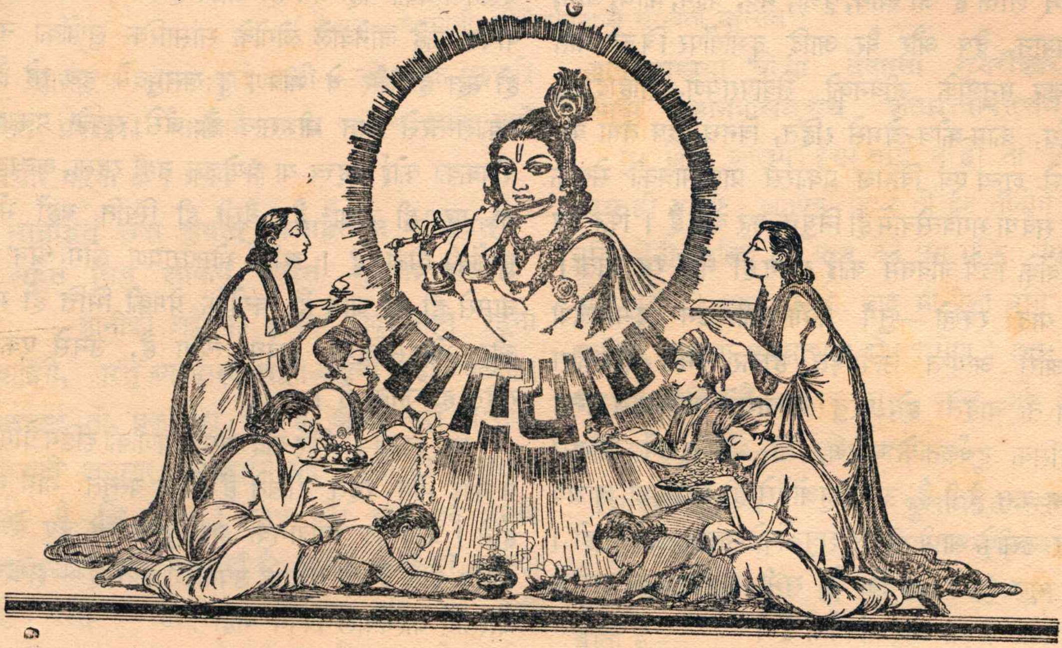

लोभो लुण्टति चित्तवित्तमनिशं कामः पदाऽऽक्राम्यति क्रोधोऽप्युद्धतधूमकेतुधवलो दन्दग्धि दिग्धोऽधिकम्।
त्वामाश्रित्य नराः शरण्य शरणं सम्प्रार्थयामो वयं मग्नां मानवतां समुद्धर महामोहाम्बुधौ माधव ॥

वर्ष ३३ } गोरखपुर, सौर आश्विन २०१६, सितम्बर १९५९ { संख्या ९ / पूर्ण संख्या ३९४

भगवान्‌की तीन विभूतियाँ—बृहस्पति, स्कन्द, समुद्र

जिनसे सब प्रकारसे रक्षा-दीक्षा पाते हैं यजमान।
उनमें मुख्य बृहस्पति मैं हूँ, सुरगुरु लोकोत्तर-विद्वान ॥
जितने सेनापति हैं जगमें, नीति-निपुण, रण-रीति-निधान।
उनमें शंकरनन्दन मैं हूँ, स्कन्द महामति शूर-प्रधान ॥
जितने सरस नदी-नद-सर-निर्झर हैं जगमें जलके स्थान।
उनमें मैं जलनिधि गभीर हूँ सागर निरुपम अतुल महान ॥

(गीता १० । २४ के आधारपर)

याद रक्खो—विशुद्ध भगवत्प्रेमके साधनमें एक महान् शक्ति है जो स्वार्थ, घृणा, भय, काम, क्रोध, लोभ, अभिमान, द्वेष और वैर आदि दुर्भावोंपर विजय प्राप्त कराकर मनुष्यके जीवनको सेवापरायण, सौहार्दमय, निर्भय, काम-क्रोध-लोभसे रहित, विनम्र, द्वेष तथा वैर-भावसे शून्य एवं विभिन्न प्रकारसे प्राणीमात्रकी सेवाके द्वारा सर्वथा भगवत्सेवामें ही नियुक्त कर देती है। फिर इन दुर्भावोंके लिये जीवनमें कोई स्थान ही नहीं रह जाता।

याद रक्खो—तुम कभी-कभी इन दुर्भावरूपी शत्रुओंसे अत्यन्त उत्पीड़ित होकर इनसे छुटकारा पाना तो चाहते हो, परंतु भगवान्‌में अविश्वासजनित मानसिक दुर्बलताके कारण, जो भोग-सुखमें विश्वास उत्पन्न करा देती है, उन शत्रुओंमेंसे ही किसीका आश्रय लेकर उसीके साथी दूसरे शत्रुओंको मारना चाहते हो। यह भूल जाते हो कि ये सभी परस्पर एक दूसरेके सहायक, पोषक और संवर्धक हैं।

याद रक्खो—जैसे अन्धकारसे अन्धकारका नाश नहीं किया जा सकता और शत्रुओंसे शत्रुओंका नाश नहीं हो सकता, वैसे ही पापसे पापका नाश सम्भव नहीं है। इन दुर्भावोंके सेवनसे इनका परिवार और बल बढ़ता ही जायगा और परिणामस्वरूप तुम्हारा जीवन पाप-दोषमय बन जायगा।

याद रक्खो—इसका प्रधान कारण है—विषयानुराग—इन्द्रिय-भोगोंमें आसक्ति या प्रीति। इसीलिये तुम्हें जब भ्रमसे ऐसा दीखता है कि उपर्युक्त दोषोंका आश्रय छोड़ देनेसे अमुक भोग नहीं रहेगा या नहीं मिलेगा, तब तुम उन दोषोंको अपना सहायक, सुहृद् मानकर उन्हें अपनाये रखते हो तथा उन्हें छोड़नेमें विपत्ति या हानिकी सम्भावना देखते हो। यहीं तुम्हारा भ्रम और भी बढ़ जाता है।

याद रक्खो—भगवत्प्रेमके पथिकोंको जिस दुर्लभ परमानन्दकी प्राप्ति पथमें ही होने लगती है, उसका भोगराज्यमें कहीं अस्तित्व ही नहीं है। तथापि दूरसे देखनेवालोंको यह भ्रम हो जाता है कि इन भगवत्प्रेमके पथिक कहे जानेवाले लोगोंके सांसारिक सुखोंका नाश हो रहा है और वे भीषण दुःखसमुद्रमें डूब रहे हैं। प्रकारान्तरसे बात भी सत्य है; जैसे सूर्यके प्रकाशमें दीपकका कोई महत्त्व या प्रयोजन नहीं रहता, अन्धकार तो मर ही जाता है, वैसी ही स्थिति यहाँ भोग-सुखोंकी होती है। इसीसे भोगपरायण लोग 'प्रेम' के नामसे ही डर जाते हैं; क्योंकि प्रेमकी भित्ति ही भोग और भोगासक्तिका सर्वथा त्याग है, उनसे एकदम रहित हो जाना है।

याद रक्खो—फिर यदि भोगपरायणोंकी दृष्टिमें प्रेमियोंमें कोई भोग रहते दीखते हैं तो वे वस्तुतः भोग नहीं होते। प्रेमास्पद भगवान्‌के इच्छानुसार रहे हुए सेवाके साधन होते हैं। वे पूजाके उपकरण होते हैं—इन्द्रियके चरितार्थ करनेवाले विषय नहीं!

याद रक्खो—यह तो प्रेमराज्यमें प्रविष्ट पथिकोंकी बात है। जो वस्तुतः भगवत्प्रेमको प्राप्त कर चुके हैं, उनका जीवन तो इतना पवित्रतम उच्चातिउच्च स्तरपर पहुँचा हुआ होता है कि स्वयं पूर्णकाम आप्तकाम भगवान् उनसे मिलनेके लिये लालायित रहते हैं। सच तो यह है कि भगवान् उनसे सदा मिले ही रहते हैं। भगवान् उनके दिव्य दानके गृहीता बनते हैं और वे सहज दाता।

याद रक्खो—उनमें दातापनका अभिमान तो होता ही नहीं, उनके पास अपना कुछ है या वे कुछ दे सकते हैं—ऐसी कल्पना भी उनके जीवनमें कहीं नहीं रह जाती, परंतु स्वयं भगवान् ही उन परम अकिञ्चनोंमें इतनी दुर्लभ वस्तु देखते हैं कि वे निरन्तर उनको बिना किसी व्यवधानके अपने साथ रखनेमें अथवा उनके साथ रहनेमें—सर्वथा घुल-मिलकर रहनेमें आनन्दलाभ करते हैं। यही प्रेमका महान् चमत्कार है।

'शिव'

ज्ञानोत्तर जीवन-निर्वाह

(लेखक—स्वामीजी श्रीचिदानन्दजी सरस्वती महाराज)

ज्ञानोदय होनेके बाद ज्ञानी—जीवन्मुक्त पुरुषको किस प्रकारकी भावनामें रहना चाहिये, इसका यहाँ विचार करना है। प्रथम तो—

भावाद्वैतं सदा कुर्यात् क्रियाद्वैतं न कर्हिचित्।
अद्वैतं त्रिषु लोकेषु नाद्वैतं गुरुणा सह॥

—ज्ञानीको अद्वैतकी भावना सदा करते रहना चाहिये, परंतु व्यवहारमें अद्वैत-भावना नहीं चलती। व्यवहार तो प्रकृतिका क्षेत्र है, अर्थात् वहाँ तो गुण-वैषम्यके अनुसार व्यवहारमें भेद रहेगा ही। दृष्टान्त यह है कि (१) गाय और बाघ, इन दोनोंमें अद्वैतदृष्टिसे कोई भेद नहीं है; क्योंकि दोनो ही ब्रह्मरूप हैं। परंतु व्यवहारके समय यह दृष्टि काम नहीं आती। गायको घरमें बाँधते हैं, बाघको नहीं। (२) शक्कर और संखिया—शक्करको तो लोग खाते हैं और संखियाको कोई खाय तो मर जाय। (३) अपनी माँ, स्त्री और बहिन—अद्वैत-दृष्टिसे तीनो ही ब्रह्मरूप हैं, व्यवहारमें भी तीनो स्त्रियाँ हैं; शरीर भी एक-सा है तथा एक ही आत्मा तीनोंमें है। फिर भी व्यवहार तो सम्बन्धानुसार यथायोग्य ही होना चाहिये। अन्यथा मनुष्य और पशुमें कोई भेद ही नहीं रहेगा। अतएव अद्वैत भावनामें ही होता है और व्यवहार तो द्वैतके बिना हो ही नहीं सकता।

तीनो लोकोंमें सर्वत्र अद्वैतकी भावना करे, परंतु गुरुके साथ तो अद्वैतकी भावना भी नहीं की जा सकती। गुरु और शिष्य दोनो ही जीवन्मुक्त हों तथा अद्वैतनिष्ठामें हों, तथापि शिष्यके लिये उचित है कि गुरुको ईश्वर-तुल्य मानकर उनकी सेवा करे। समानता तो कभी की जा सकती ही नहीं। इसीलिये ज्ञानोत्तर-कालके व्यवहारके लिये कहा है—

यावदायुस्त्रयो वन्द्या वेदान्तो गुरुरीश्वरः।
आदौ ज्ञानप्रसिद्ध्यर्थं कृतघ्नत्वापनुत्तये॥

गुरु और शास्त्रमें ईश्वर-बुद्धि न हो तो ज्ञानका उदय ही न हो। अतएव पहले तो इन तीनोंमें पूज्य-बुद्धि होनी चाहिये। (यस्य देवे परा भक्तिः यथा देवे तथा गुरौ।) ज्ञान होनेके बाद भी ऐसी बुद्धि रखनी चाहिये, अन्यथा कृतघ्नताका दोष लगेगा। अतः शरीर जबतक जीवित है, तबतक गुरु, शास्त्र और ईश्वरके प्रति सम्पूर्ण भक्ति-भाव रखे। क्योंकि—

ईश्वरानुग्रहादेषा पुंसामद्वैतवासना।
महाभयकृतत्राणा द्वित्राणामुपजायते॥

ईश्वरके अनुग्रहसे ही मनुष्यमें अद्वैतज्ञान प्रकट होता है—

यमेवैष वृणुते तेन लभ्य-
स्तस्यैष आत्मा विवृणुते तनुं स्वाम्।

यह उसके बिना नहीं होता। यदि ज्ञानका अभिमान आ जाय और शरीरके रहते 'मैं ही ईश्वर हूँ'—यह मान बैठे और गुरु-शास्त्रकी अवमानना कर बैठे तो किया-कराया सब धूलमें मिल जाता है। अतएव यह कहना पड़ता है कि किन्ही विरले भाग्यशाली पुरुषोंको ही अद्वैत ज्ञानकी प्राप्ति होती है।

ऐसा अभिमान न आये, एतदर्थ जीवन-निर्वाह किस प्रकारकी भावनामें करना चाहिये—अब यही विचार करना है।

भगवान् श्रीरामचन्द्रजीके प्रश्नका उत्तर देते हुए श्रीहनुमान्जी कहते हैं—

देहदृष्ट्या तु दासोऽहं जीवदृष्ट्या त्वदंशकः।
वस्तुतस्तु त्वमेवाहमिति मे निश्चिता मतिः॥

देहदृष्टिसे दास हूँ, जीवदृष्टिसे अंश।
पर तू ही मैं तत्त्वतः, एतावत् सारांश॥

इस प्रकार जबतक शरीर है, तबतक उससे सत्कर्म करते रहना चाहिये (स्वकर्मणा तमभ्यर्च्य, गीता १८।४६)। स्वरूपसे एक-रूप होनेपर भी, जबतक शरीरकी उपाधि है, तबतक ईश्वरके साथ समता न करे। तब फिर ईश्वरके साथ एकता कब होगी? 'अहं ब्रह्मास्मि' का अनुभव कब होगा?*

इसके लिये करना कुछ नहीं है। केवल जबतक शरीर जीवित है, तबतक देखते रहना है—द्रष्टा-भावमें स्थिर रहना है। इस बातको समझाते हुए अवधूत दत्तात्रेय कहते हैं—

घटे भिन्ने घटाकाशमाकाशे लीयते यथा।
देहाभावे तथा योगी स्वरूपे परमात्मनि॥

जब घड़ा विद्यमान होता है, उस समय भी घटाकाश स्वरूपसे तो महाकाश ही होता है। तथापि जबतक घटका आवरण है, तबतक उसका अनुभव नहीं होता, तद्रूपता नहीं होती। इसी प्रकार आत्मज्ञानी देहके विद्यमान रहते भी ब्रह्मरूप ही है। (ब्रह्मविद् ब्रह्मैव भवति) तथापि जबतक देहकी उपाधि है, तबतक उसका अनुभव नहीं होता, तद्रूपता नहीं होती; तीनो देहोंका नाश होनेपर ब्रह्मरूप आत्मा अपने ब्रह्मरूपके साथ एकरूप हो जाता है। इस प्रकारकी पूर्ण एकता तो विदेह-कैवल्यके समय ही होती है।

इसी भावको कबीरदासजीने इस प्रकार व्यक्त किया है—

जिस मरनेसे जग डरे, उसमें मुझे अनंद।
कब मरिये, कब भेटिये पूरन परमानंद॥

तात्पर्य यह है कि जबतक देहमें आत्मभावना रहती है, तभीतक मृत्युका भय बना रहता है। परंतु आत्मज्ञान होनेके बाद वह भय दूर हो जाता है। इतना ही नहीं, बल्कि मृत्युके आनेपर ज्ञानीको हर्ष होता है; क्योंकि वह जानता है कि मृत्यु तो उपाधिकी होती है और उपाधिसे छूटनेमें आनन्द किसको नहीं होता? इसीसे कहा जाता है कि कब शरीरका भोग समाप्त हो और कब उपाधिसे छूटकर पूर्ण आनन्दस्वरूपमें एक-रस हुआ जाय।*

इस विषयका एक प्रत्यक्ष दृष्टान्त है। सायंकालको टहलनेका समय था। अतः कपड़े पहन, हाथमें छड़ी लेकर, पैरोंमें जूते पहनकर मैं खड़ा था कि उसी समय वहाँ एक ब्रह्मचारी आया। उसको 'आओ' कहकर मैं वापस चारपाईपर बैठ गया। उसने कहा—'स्वामीजी! यह एक श्लोक तो समझा दीजिये।' मैंने उसको वह श्लोक समझाया और फिर जानेके लिये खड़ा हुआ। तब वह बोला—'स्वामीजी! मैं इस श्लोकका अर्थ लिखकर आपको दिखा दूँ, तब उसे देखकर आप जायँ।' श्लोकका अर्थ लिखकर ब्रह्मचारीने मुझे दिया और उसको देख लेनेके बाद मैं घूमनेके लिये गया।

---

* मनः कर्ममयं नृणामिन्द्रियैः पञ्चभिर्युतम्।
लोकाल्लोकं प्रयात्यन्य आत्मा तदनुवर्तते॥
(श्रीमद्भा० ११।२२।३६)

मनुष्यका मन कर्ममय है, अतएव किये गये कर्मोंका फल भोगनेके लिये वह पञ्च-ज्ञानेन्द्रियोंको साथ लेकर, एक देह छोड़कर दूसरा देह धारण करता है। आत्मा तो निरपेक्ष है, तथापि भ्रान्तिसे अपनेको मनके साथ आवागमन करनेवाला मानता है और संसारी बन जाता है। यह देहात्म-भ्रान्ति 'सोपाधिक भ्रम' है, अर्थात् उपाधि जबतक सर्वथा दूर नहीं हो जाती, तबतक तद्रूपता प्रत्यक्ष नहीं होती।

स्फटिकके पाससे लाल पुष्पके दूर हुए बिना जैसे स्फटिककी लालिमा दीखनी बंद नहीं होती, उसी प्रकार तीनो देहोंके नाश हुए बिना जीव-ब्रह्मके अभेदका प्रकट अनुभव नहीं होता। भेदका बाध ज्ञानसे अवश्य होता है, परंतु अभेदका अनुभव तो उपाधि दूर होनेके बाद ही होता है।

* उपाधिसे छूटनेपर आनन्दकी जो अभिव्यक्ति होती है उसको बतलाते हुए श्रीशंकराचार्य अपने अभिलाषाष्टक स्तोत्रमें कहते हैं—'कदा हित्वा जीर्णां त्वचमिव भुजङ्गस्तनुमिमाम्।' अर्थात् सर्प जैसे जीर्ण केंचुली छोड़कर आनन्दसे चला जाता है, उसी प्रकार मैं भी इस देहरूपी केंचुलीको छोड़कर कब जाऊँगा।

यहाँ समझनेकी बात केवल इतनी ही है कि मुझे अपने लिये तो वहाँ रुकनेका कोई प्रयोजन नहीं था, परंतु ब्रह्मचारीके प्रयोजनके लिये मुझको वहाँ बैठना पड़ा।

इसी प्रकार ज्ञान होनेके बाद आत्मज्ञानीको शरीरमें रहनेका कुछ भी प्रयोजन नहीं होता; परंतु शरीरको प्रारब्ध-क्षयपर्यन्त जीवित रहना है, अतएव शरीरके प्रयोजनकी सिद्धिपर्यन्त आत्मज्ञानीको बाध्य होकर रहना पड़ता है। अतएव शरीरके छूटनेपर उसको जो आनन्द होता है, इसमें कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। और शरीरकी रक्षा करते समय कभी यदि चित्तको कुछ क्लेश होता है तो वह भी कोई विलक्षण बात नहीं है; क्योंकि अपने प्रयोजनके बिना किया जानेवाला कार्य कभी रुचिकर होता ही नहीं। ॐ तत्सत्

स्वर्गसुखभोग अनित्य है

(लेखक—अनन्तश्रीविभूषित श्रीशंकर स्वामीजी श्रीशंकरतीर्थजी महाराज)

एक प्रकृष्ट बलवान् अश्व एक दिनमें जितने योजन चल सकता है, उतने योजन परिमित देशको 'अश्वीन' कहा जाता है—'अश्वस्यैकाहगमः' (पाणिनि ५।२।१९) 'एकाहेन गम्यते इत्येकाहगमः आश्वीनोऽध्वा' (सिद्धान्तकौमुदी)। 'ऐतरेयब्राह्मण' में कहा गया है—भूलोकसे आरम्भकर सहस्र-अश्वीन ऊर्ध्व देशमें 'स्वर्गलोक' है, इस स्वर्गलोकमें सब प्रकारकी भोग्य वस्तुओंकी प्राप्ति होती है और इन्द्रादि देवगणके साथ प्रीतिपूर्वक सम्बन्ध होता है—'सहस्रमनूच्यं स्वर्गकामस्य, सहस्राश्वीने वा इतः स्वर्गो लोकः स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै सम्पत्यै संगत्यै' (ऐतरेय ब्राह्मण २।७)। 'प्रबलोऽश्व एकेनाह्ना यावन्ति योजनानि गच्छति, तावद्योजनपरिमितो देशोऽश्वीनः। स च सहस्रसंख्यया गुणितः सहस्राश्वीनः। × × × इतः भूलोकादारभ्य 'सहस्राश्वीने' ऊर्ध्वदेशे स्वर्गो लोको वर्तते। अतः सहस्रसंख्या स्वर्गस्य लोकस्य समष्ट्यै प्राप्त्यै भवति, प्राप्तस्य सम्पत्यै सापेक्षितसर्वभोगवस्तुसम्पादनाय भवति; सम्पन्नस्य संगत्यै महतामिन्द्रादिदेवानां प्रीतिपूर्वकसम्बन्धाय भवति' (ऐतरेय-आरण्यक-भाष्य)। जो लोग स्वर्गकाम हैं अथवा पृथ्वीसे भिन्न लोकका दर्शन चाहते हैं, सत्यका रूप देखनेके लिये समुत्सुक हैं, जिस उपायसे ऊर्ध्वलोकका दर्शन मिल सकता है, ऊर्ध्वलोकमें गमन हो सकता है, अमरगणके दर्शन मिल सकते हैं, वेदभगवान्ने उसका उपदेश किया है। देवदर्शनके निमित्त दिव्यचक्षुका प्रयोजन है, तभी तो अतिनिकटवर्ती देव भी अदृश्य रहते हैं। सर्वत्र विद्यमान भगवान्के दर्शन क्या समस्त जीव कभी पाते हैं? अतएव विमानसे बहुत ऊपर चढ़नेपर भी स्वर्गलोकके समीप पहुँचना असम्भव है।

वेद कहते हैं, सृष्ट पदार्थमात्र ही त्रिगुणमय है। गुणत्रयका सम्मिलित रूप रज्जु जैसे त्रिवृत् है, उसी प्रकार पृथिव्यादि लोकत्रय भी त्रिवृत् है। पृथिवीमें भी स्वर्ग और अन्तरिक्ष हैं; स्वर्गमें भी पृथिवी और अन्तरिक्ष हैं; अन्तरिक्षमें भी पृथिवी और स्वर्ग हैं; उत्तम, मध्यम और अधम भाव प्रत्येक लोकमें ही विद्यमान हैं—'तिस्रो देवता अन्वाह। त्रयो वा इमे त्रिवृतो लोकाः' (ऐतरेय ब्राह्मण)। यथा गुणत्रयमेलनरूपा रज्जुस्त्रिवृद् एवमेते पृथिव्यन्तरिक्षद्युलोकाः परस्परं मिलितास्त्रिवृतः। यद्वा एकैकस्मिंल्लोके सत्त्वरजस्तमोगुणभेदेन अस्योत्तममध्यमाधमरूपत्वात् प्रत्येकं त्रिवृत्त्वम्' (सायणभाष्य)। वेदोक्त इस अतिमात्र सारगर्भ उपदेशका तात्पर्य-परिग्रह न होनेके कारण ही लोकान्तरके अस्तित्वको कल्पना-प्रसूत प्रतिपादन करनेकी चेष्टा चलती है। सत्त्व, रज और तम—इस गुणत्रयके भेदसे प्रत्येक लोकमें ही उत्तम, मध्यम और अधम—यह त्रिविध सृष्टि होती है; अतएव प्रत्येक लोक ही त्रिवृत् है अर्थात् उत्तम, मध्यम और अधम—त्रिविध भावमय है। वेद, दर्शन, पुराण, मन्वादि संहिता, आयुर्वेद, तन्त्र आदि शास्त्रोंमें इसके भूरि-भूरि प्रमाण हैं।

'महाभारत' और 'मनुसंहिता'में कहा गया है कि दिवस, रजनी, पक्ष, मास, ऋतु, वर्ष, भूरादि लोकसमूह, दान, यज्ञ, देवता, विद्या, गति, धर्म, प्राण अर्थात् अखिल जागतिक पदार्थ ही त्रिगुणात्मक हैं; गुणत्रय पर्यायक्रमसे निखिल वस्तुओंमें ही प्रवृत्त होता है, दिवसादि समस्त पदार्थ ही त्रिविध हैं—

अहस्त्रिधा तु विज्ञेयं त्रिधा रात्रिर्विधीयते।
मासार्द्धमासवर्षाणि ऋतवः संधयस्तथा॥

त्रिधा दानानि दीयन्ते त्रिधा यज्ञः प्रवर्त्तते ।
त्रिधा लोकास्त्रिधा देवास्त्रिधा विद्यास्त्रिधा गतिः ॥
पर्यायेण प्रवर्तन्ते तत्र तत्र तथा तथा ।
यत् किंचिदिहलोकेऽस्मिन् सर्वमेते त्रयो गुणाः ॥

(महा० आश्वमेधिक)

एष सर्वः समुद्दिष्टस्त्रिप्रकारस्य कर्मणः ।
त्रिविधस्त्रिविधः कृत्स्नः संसारः सार्वभौमिकः ॥

(मनुसंहिता १२ । ५२)

जगत्में विद्यमान समस्त पदार्थ ही सात्त्विक, राजसिक और तामसिक भेदसे सामान्यतः त्रिविध हैं—इत्यादि उपदेशका अभिप्राय मनन करनेपर उपलब्ध होगा कि प्रत्येक जागतिक पदार्थकी ही आपेक्षिक उन्नत और अवनत—दो अवस्थाएँ हैं। भूर्लोककी तुलनासे भुवर्लोक और भुवर्लोककी तुलनासे स्वर्लोक उत्कृष्ट है; पशु आदि जीवोंकी तुलनासे मनुष्य, और मनुष्यकी तुलनासे देवगण उत्कृष्ट हैं; भूर्लोकमें भी सात्त्विक, राजसिक और तामसिक परिणामवश देशादिकी उच्च और नीच अवस्थाएँ हैं। पृथिवीलोकमें भी स्वर्ग है, नरक है; सुर हैं, असुर हैं।

'नरक' शब्दके निर्वचनमें महामति महर्षि यास्कने कहा है—नीच व्यक्ति जिस स्थानमें जाता है, अथवा जिस स्थानमें थोड़ा भी रमण—रतिकर स्थान नहीं है, वह 'नरक' है—

नरकं न्यरकं नीचैर्गमनम् ।
नास्मिन् रमणकं स्थानमल्पमप्यस्तीति वा ॥

(निरुक्त)

'तैत्तिरीय आरण्यक' में कहा गया है—दक्षिण और पूर्व दिक्के अन्तरालवर्त्ती (आग्नेय) दिक्में 'विसर्पी' नामक, दक्षिण-पश्चिम दिशामें 'अविसर्पी' नामक, उत्तर-पूर्व दिशामें 'विषादी' नामक तथा उत्तर-पश्चिम दिशामें 'अविषादी' नामक नरक है। जिस नरकमें वेदनाकी अतिशयतासे अस्थिर होकर जीव इधर-उधर भागदौड़ करते हैं, उसका नाम विसर्पी है। जिस नरकमें दुःखके अत्यन्त आधिक्यके कारण जीव हिलने-डुलनेमें भी समर्थ नहीं होता, वह 'अविसर्पी' नामसे कहा गया है। जिस नरकमें जीव 'मैंने क्यों पाप किये थे' इस प्रकार विषाद करते हैं, उसका नाम 'विषादी' नरक है और जिस नरकमें दुःखातिशयके कारण जीव विषाद करनेमें भी असमर्थ रहते हैं, उसका नाम 'अविषादी' है—

दक्षिणपूर्वस्यां दिशि विसर्पी नरकस्तस्मान्नः परिपाहि ।
दक्षिणापरस्यां दिश्यविसर्पी नरकस्तस्मान्नः परिपाहि ॥
उत्तरपूर्वस्यां दिशि विषादी नरकस्तस्मान्नः परिपाहि ।
उत्तरापरस्यां दिश्यविषादी नरकस्तस्मान्नः परिपाहि ॥

(तैत्तिरीय आरण्यक)

'नरक' शब्द वेदमें दुःखमय स्थानके वाचकरूपसे व्यवहृत हुआ है, यह सुखबोध्य है। जिस लोकमें पुण्यवान् बसते हैं, वह लोक सुखमय है, वह 'स्वर्ग' है। 'स्वर्ग' शब्द वेदमें सर्वत्र एक ही अर्थमें व्यवहृत नहीं हुआ है। 'ऋग्वेद'में कहा गया है—स्वर्गमें भी उत्तम, मध्यम और अधम स्थान हैं; उत्तम, मध्यम और अधम भाव (अवस्था) हैं, आनन्दका तारतम्य है—

यत्रानुकामं चरणं त्रिनाके त्रिदिवे दिवः ।
लोका यत्र ज्योतिष्मन्तस्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥

(ऋग्वेदसंहिता ७ । ९ । ११ । १)

यत्रानन्दाश्च मोदाश्च मुदः प्रमुद आसते ।
कामस्य यत्राप्ताः कामास्तत्र माममृतं कृधीन्द्रायेन्दो परिस्रव ॥

(ऋ० सं० ७ । ९ । ११ । २)

श्रुतिने संसारको ऊर्ध्वमूल और अवाक्शाख वृक्षरूपसे वर्णन किया है; श्रीमद्भगवद्गीतामें भी भगवान्ने संसारको ऊर्ध्वमूल वृक्षस्वरूप कहा है—

ऊर्ध्वमूलमवाक्शाखम् । वृक्षं यो वेद सम्प्रति ॥
न स जातु जनः श्रद्दध्यात् । मृत्युर्मा मारयादिति ॥

(तैत्तिरीय आरण्यक)

ऊर्ध्वमूलोऽवाक्शाख एषोऽश्वत्थः सनातनः ।
तदेव शुक्रं तद् ब्रह्म तदेवामृतमुच्यते ॥

(कठोपनिषद्)

ऊर्ध्वमूलमधःशाखमश्वत्थं प्राहुरव्ययम् ।

(श्रीगीता)

ऊर्ध्वमूलं कालतः सूक्ष्मत्वात्कारणत्वान्नित्यत्वान्महत्त्वाच्चोर्ध्वमुच्यते ब्रह्माव्यक्तमायाशक्तिमत्तन्मूलमस्येति सोऽयं संसारवृक्ष ऊर्ध्वमूलः ॥

(श्रीशांकरभाष्य)

लौकिक वृक्षके अधोभागमें मूल और ऊर्ध्वभागमें शाखा होती है, परंतु जगद्वृक्ष इसके विपरीत है; जगद्वृक्षका ऊर्ध्व (अर्थात् सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म) मूल है और ब्रह्मादिस्तम्बपर्यन्त देहसमूह शाखास्थानीय हैं। श्रुतिमें

'ऊर्ध्व' शब्द सर्वोत्कृष्ट ब्रह्मके वाचकरूपसे प्रयुक्त हुआ है। सर्वोत्कृष्ट ब्रह्म विश्वजगत्का मूल है; इससे हृदयंगम होगा कि जन्ममात्र ही—सृष्टिमात्र ही ऊर्ध्वसे निम्नमें आगमन है, ऊपरसे नीचे उतरना है। चूँकि समस्त पदार्थ ही मूलतः ब्रह्मसे उत्पन्न हैं, ब्रह्म ही विश्वजगत्का मूल कारण है। जो वस्तु किसीका कार्य नहीं है, जिसका कारणान्तर नहीं है, वही मूल कारण है। 'ब्रह्म' तादृश पदार्थ है, अतएव ब्रह्म ही मूल कारण है। जिस वस्तुसे इस विश्वके जन्मादि होते हैं, श्रुतिमें और वेदान्तमें उस वस्तुको 'ब्रह्म' कहा गया है—

यतो वा इमानि भूतानि जायन्ते। येन जातानि जीवन्ति।
यत् प्रयन्त्यभिसंविशन्ति। तद् विजिज्ञासस्व तद् ब्रह्मेति॥
(तैत्तिरीय आरण्यक)

जन्माद्यस्य यतः। (वेदान्तसूत्र)

महर्षि यास्कने कहा—वेदका उपदेश है, पुरुष (अर्थात् आत्मा) ही सर्वविध स्थावर और जङ्गम पदार्थोंकी प्रकृति (अर्थात् कारण) है। इसमें सर्वविध विकार (अखिल कार्य) प्रकृत होता है, इस हेतु प्रकृतिका नाम 'प्रकृति' हुआ है। सत्तालक्षण (सत्ता है लक्षण जिसका), अर्थात् सामान्य सत्ताके द्वारा ही जो लक्षित होता है—

'अस्तीत्येवोपलब्धव्यः' (कठोपनिषद्)

—वह महान् आत्मा (अर्थात् ब्रह्म ही) भूतप्रकृति है, ब्रह्म स्वीय प्रकृति (मायाशक्ति) के द्वारा अनेकविध स्थावर और जङ्गम भाव धारण करता है। कार्य कारणसे वस्तुतः भिन्न नहीं है, इस सत्यको बोधगम्य करानेके उद्देश्यसे वेदमें स्थावर-जङ्गमकी ब्रह्मरूपसे स्तुति की गयी है, वृक्षादिकी भी स्तुति वेदमें देखी जाती है*। अग्नि, सूर्य, इन्द्र, वरुण आदि देवगण एक परमात्माके ही अङ्ग-प्रत्यङ्गस्वरूप हैं, अग्न्यादि देवगण परमात्मासे वस्तुतः अभिन्न हैं, शक्तिमान्से शक्तिका वास्तव भेद नहीं है, अङ्ग कदापि अङ्गीसे अतिरिक्त नहीं रह सकते। वेदमें अदेवताकी देवतावत् स्तुति नहीं की गयी है, महान् आत्माका ही विश्वरूपसे—सर्वव्यापक विभुरूपसे स्तवन किया गया है। परमात्मा सर्वव्यापक है, परमात्मा ही सर्वकारण है, परमात्मा ही स्वशक्तिबलसे विश्वरूपमें प्रकट होता है—इस रहस्यको बोधगम्य करानेके निमित्त वेदमें परमात्माका अङ्ग-प्रत्यङ्गसमूह स्तुत हुआ है—

अपि च सत्त्वानां प्रकृतिभूमभिर्ऋषयः स्तुवन्तीत्याहुः।
(निरुक्त ७।४।१०)

प्रक्रियन्ते अस्यां सर्वे विकारा इति प्रकृतिः, स सत्तालक्षणो महानात्मा हिरण्यगर्भ इति। वक्ष्यति हि—स एव महानात्मा सत्तालक्षणः, तत् परम् तद् ब्रह्म स भूतात्मा, सैषा भूतप्रकृतिः इति। तस्या भूमा बहुत्वम्, अनेकधा विपरिणामः स्थावरजङ्गमभावेन। प्रकृतेर्भूमानि बहुत्वानि यानि सत्त्वानां तैरनन्यविषयत्वं पश्यन्तः कार्यकारणयोरनन्यत्वात् कारणमहिमभिः तान्यश्वादीन्यभिष्टुवन्ति इत्याहुरात्मविदः। तद्यथा—द्यौस्ते पृष्ठं पृथिवी शरीरमात्मान्तरिक्षम् इत्येवमादीनि। आत्मैव सर्वं स्थावरजङ्गममित्यवेत्य अश्वमेधे 'मूलेभ्यः स्वाहा, शाखाभ्यः स्वाहा' इत्येवमादिभिस्तेन तेन वैशेषिकेण स्थावरजङ्गमात्मना प्रकृतेरभिन्नेनावस्थानेनावस्थितो महानेवात्मेज्यते। न ह्यदेवतायागमर्हति। यावच्चान्यदपि किंचिदेवम्प्रकारमदेवताभिमतमिज्यते। गृह्ये च बलिप्रभृतिकर्मादौ सर्वत्र स एवेत्युत्प्रेक्षितम्। (निरुक्तटीका) 'एकस्यात्मनोऽन्ये देवाः प्रत्यङ्गानि भवन्ति।' (निरुक्त ७।४।९) 'स एष महानात्मा अग्नीन्द्रसूर्याद्यङ्गप्रत्यङ्गभावेन व्यूहमनुभवन् एकोऽपि सन् बहुधा स्तूयते (निरुक्तटीका)

यहाँ प्रश्न होगा कि 'जब एक महान् आत्मा ही देवता-मनुष्यादिके रूपसे लीलापरायण है, तब क्या देवता

* दिव्यं ब्रूमो नक्षत्राणि भूमिं यक्षाणि पर्वतान्।
समुद्रा नद्यो वेशन्तास्ते नो मुञ्चन्त्वंहसः॥
(अथर्ववेदसंहिता ११।८।२०)

अर्थात् हे सर्वमय! सर्वव्यापक पशुपते! द्योतमान स्वर्गमें आप अधिष्ठातृरूपसे निवास करते हैं, इस हेतु हम स्वर्गका स्तव करते हैं, स्वर्गाश्रित नक्षत्रोंका स्तव करते हैं; आपके भूमिमें अधिष्ठातृरूपसे रहनेके कारण हम भूमिका (पृथिवीका) स्तव करते हैं; आप पृथिवीस्थ यक्षमें (पूज्य पुण्यक्षेत्रमें) वास करते हैं, इस हेतु हम यक्षका (तीर्थका) स्तव करते हैं; आपके हिमवत्-प्रमुख महागिरियोंमें अधिष्ठित रहनेके कारण हम हिमवत्-प्रमुख पर्वतोंका स्तव करते हैं; आप सप्तसंख्यक भूम्याश्रित समुद्रोंमें, गङ्गादि नदियोंमें और सरोवरोंमें वर्तमान रहते हैं, इस हेतु हम समुद्रका, गङ्गादि नदियोंका, सरोवरोंका स्तव करते हैं। हे सर्वमय सर्वव्यापक सर्व! हे पशुपते (देवदेव)! आप हमें पापमुक्त करें, विशुद्ध करें। यदि हम आपको सर्वमय, सर्वव्यापक न जानते तो हम कदापि स्वर्गादिका स्तव नहीं कर सकते।

और मनुष्यादिमें कुछ भी भेद नहीं है ? देवता और मनुष्यादिका जन्म क्या समान कारणसे होता है ? देवता जो कुछ कर सकता है, मनुष्यादिमें भी उसे करनेकी सामर्थ्य है ?' इसके उत्तरमें महर्षि यास्कका कहना है—'नहीं, देवता और मनुष्यादिका जन्म समान कारणसे नहीं होता; देवता जिस कर्मको कर सकता है, मनुष्यादि उसे नहीं कर सकते; देवताकी शक्ति और मनुष्यादिकी शक्ति समान नहीं है; ऐश्वर्यके हेतु देवता जो कर्म कर सकते हैं, अनैश्वर्यके कारण मनुष्यादि उसे नहीं कर सकते। देवताकी शक्ति अचिन्त्य है। देवताका धर्म मनुष्यधर्मके विपरीत है। देवतामें अणिमादि ऐश्वर्य रहता है, मनुष्यादिमें वह नहीं रहता। मनुष्यादि अनैश्वर्य हैं, देवगण ऐश्वर्यवान् हैं—इसे समझानेके लिये महर्षि यास्कने कहा है—'इतरेतरजन्मानो भवन्तीतरेतरप्रकृतयः' (निरुक्त, दैवतकाण्ड)—देवगण इतरेतरजन्मा हैं, वे परस्पर परस्परका उत्पादन कर सकते हैं, वे एक दूसरेका रूप धारण करनेमें समर्थ हैं; मनुष्य वैसा नहीं कर सकते। अग्निसे सूर्य और सूर्यसे अग्नि आविर्भूत होते हैं, अग्नि सूर्यका प्रसव कर सकता है तथा सूर्य अग्निका प्रसव करनेमें समर्थ है; परंतु मनुष्यमें वैसा सामर्थ्य नहीं है। देवगण इतरेतरप्रकृति होनेसे एक दूसरेका रूप धारण करनेमें समर्थ हैं—'मनुष्यधर्मविपरीतो हि देवताधर्मः, अनैश्वर्यान्मनुष्याणामैश्वर्याच्च देवतानाम्। तत् कथमिति ? अतो भेदमाश्रित्य प्रतिसमाधीयते—इतरेतरजन्मानो भवन्तीतरेतरप्रकृतयः, देवाः ऐश्वर्यात्। न मनुष्याणामियं शक्तिरस्ति, अनैश्वर्यात्। × × × देवानां त्वग्नेः सूर्योऽजायत—एष प्रातः प्रसूवति—इति ह विज्ञायते, तस्मात् सूर्यस्याग्निः प्रकृतिः। सूर्याच्चाग्निः सायं जायते, तस्मादग्नेः सूर्यः प्रकृतिः।''' स एष सर्वथाप्यचिन्त्यो देवताधर्मः। तासामानन्त्यान्महाभाग्यस्य।' (निरुक्तटीका)

ईश्वर (अर्थात् ऐश्वर्यशाली) होनेके कारण किसी प्रकारका अभाव या प्रयोजन न रहनेपर भी देवगण क्यों जन्म लेते हैं ? इसके उत्तरमें महर्षि यास्कने कहा है—'कर्मजन्मानः' (निरुक्त, दैवतकाण्ड) अर्थात् देवगण कर्मजन्मा हैं—लोगोंकी कर्मफलसिद्धिके निमित्त ईश्वर अर्थात् सर्व-ऐश्वर्यशाली होकर भी, किसी प्रकारका अभाव न रहनेपर भी लोकानुग्रहार्थ अग्नि, वायु, सूर्य आदि देवतारूपसे प्रकट होते हैं; उनके अग्नि-सूर्यादिरूपसे आविर्भूत न होनेपर लोगोंकी कर्मसिद्धि नहीं होती—'अथ किमर्थमीश्वराः सन्तो देवता जायन्ते ? 'कर्मजन्मानः' कर्मफलसिद्धये लोकस्य अग्निवायुसूर्या जायन्ते, न ह्येतेभ्य ऋते लोकस्य कर्मफलसिद्धिः स्यात्' (निरुक्तटीका)। देवगण कैसे कहाँसे प्रादुर्भूत होते हैं ? इसके उत्तरमें 'निरुक्त'में कहा गया है—'आत्मजन्मानः' अर्थात् लोकानुग्रहार्थ, लोगोंकी कर्मफलसिद्धिके निमित्त देवगण परमात्मासे प्रकट होते हैं। परमात्मा सृष्टिकालमें विविध विचित्र जगद्भाव धारण करते हैं, स्थितिकालमें वे उपात्त-सर्वमूर्त्ति होते हैं और प्रलयके समय वे उपरतसर्वमूर्त्ति हैं। अर्थात् जगत्के स्थितिकालमें वे सर्वमूर्त्तिरूपसे विराजते हैं और प्रलयकालमें सर्वमूर्त्तिका संहार करते हैं। देवताओंका जन्म परमात्मासे होता है। प्रश्न हो सकता है कि ''परमात्मा सर्वकार्योंके परम कारण हैं, अतएव सब कुछ ही परमात्माका कार्य है, सभी परमात्मासे जन्मते हैं; सुतरां, देवगणको विशेषतः 'आत्मजन्मा' कहनेका क्या कारण है ?'' इसका उत्तर यही है कि सभी परमात्मासे जन्मते हैं, किंतु देवताओंके समान स्वेच्छानुसार सबका जन्म नहीं होता; परमात्मासे देवताओंका स्वेच्छापूर्वक आविर्भाव होता है। देवता योगानुष्ठान-से आत्माका स्वरूपदर्शन करके ईश्वरत्वको प्राप्त होते हैं—ऐश्वर्यवान् होते हैं, एवं यथाकाल संकल्पानुरूप शरीर धारण करते हैं। परंतु अनीश्वर मनुष्यादिका जन्म उस भावसे नहीं होता, उन्हें अपने आप कर्मोंके अनुसार शरीर ग्रहण करना पड़ता है। ''कर्मफलसिद्ध्यै लोकमनुजिघृक्षन्तः कुतः पुनर्जायन्ते ? 'आत्मजन्मानः'। योऽसावेक आत्मा बहुधा स्तूयत इत्युपात्तसर्वमूर्त्तिः स्थितौ, उपरतसर्वमूर्त्तिः प्रलये, भावाख्यसन्मात्रः सर्गकाले स्वमात्मानं विभज्य जगद्भावं बिभर्ति, तस्माज्जायन्त इति आत्मजन्मानः। क एव तस्मान्न जायन्ते इति चेत् ? सत्यम्, सर्वं तस्माज्जायते न कामकारेण। देवास्तु तमात्मानं पश्यन्तो योगेन ततः कामकारतो जायन्ते। किमेषां जन्म ? यदेषामिच्छतां संकल्पानुविधायिकर्मानुरूपं यथाकालमात्मनः कार्यकारण-मुत्पद्यते, तदेतेषां जन्म। तदनीश्वराणां नास्ति।'' (निरुक्तटीका)

देवता जिस कर्मको अनायास कर सकता है, मनुष्य उसे नहीं कर सकता; क्योंकि देवताका धर्म और मनुष्यका धर्म एकरूप नहीं है। सामान्य प्रकृतिमें सर्वकार्यसाधनकी शक्ति रहनेपर भी विशिष्ट (परिच्छिन्न) प्रकृतिमें वह नहीं रहती; मनुष्य परिच्छिन्नप्रकृति होनेके कारण देवताके समान कर्म नहीं कर सकता। देवता योगद्वारा आत्मदर्शनरूप परमधर्मविशिष्ट हैं, अणिमादिविभूतियुक्त हैं, इस हेतु वे

यथाकाल स्वसंकल्पानुरूप शरीर ग्रहण करनेमें समर्थ हैं; मनुष्योंमें तादृश धर्म न रहनेके कारण वे यथाकाल यथाकाम जन्म-ग्रहणमें क्षमतावान् नहीं हैं। 'पातञ्जलदर्शन'से ज्ञात होता है, भूतजय होनेपर योगीमें अणिमा (जिससे वह अणु हो सकता है), लघिमा (जिससे लघु हो सकता है), महिमा (जिससे महान् हो सकता है), प्राप्ति (दूरस्थ द्रव्यका भी संनिहित होना—जैसे इच्छामात्रसे चन्द्रमाका अङ्गुलिसे स्पर्श कर सकना), प्राकाम्य (इच्छाका अनभिघात), वशित्व (भूतों एवं भौतिक पदार्थोंका वशकारी होना तथा स्वयं दूसरोंके अवश रहना), ईशित्व (भूत-भौतिक-स्रष्टृत्व अर्थात् भूतों एवं भौतिक द्रव्योंकी उत्पत्ति, स्थिति और लय यथाभिलाष करनेका सामर्थ्य) और यत्रकामावसायित्व (सत्यसंकल्पत्व और भूतों तथा भूत-प्रकृतिसमूहको यथासंकल्पित अवस्थामें रखनेका सामर्थ्य)—इस अष्टविध विभूतिका (ऐश्वर्यका—सिद्धिका) आविर्भाव होता है—'ततोऽणिमादिप्रादुर्भावः' (३ । ४५)। परंतु प्रजावृन्दकी कर्मसिद्धिके निमित्त (प्रजागण कर्म और कर्मका फलभोग कर सकेंगे—इस उद्देश्यसे) सत्यसंकल्प ईश्वरने जिस भूत-भौतिक पदार्थके लिये सृष्टिके प्रारम्भमें जिस प्रकारका संकल्प कर रखा है, योगिजनोंमें शक्ति रहनेपर भी वे उसका विपर्यास नहीं कर सकते। योगिगण ईश्वर-संकल्पयुक्त पदार्थमें यथोचित शक्तिका प्रयोग कर सकते हैं—**'यत्रकामावसायित्वं सत्यसंकल्पता, यथा संकल्पस्तथा भूतप्रकृतीनामवस्थानम्, न च शक्तोऽपि पदार्थविपर्यासं करोति, कस्मात् ? अन्यस्य यत्रकामावसायिनः पूर्वसिद्धस्य तथा भूतेषु संकल्पादिति'।** (व्यासभाष्य) यह संकल्प ही 'ऐश्वरिक नियम' अथवा 'प्राकृतिक नियम' किंवा 'धर्माधर्म' अथवा 'निमित्तकारण' किंवा 'नियति' अथवा 'दैव' किंवा 'अदृष्ट' कहा जाता है। कार्यमात्र ही उपादान और निमित्त—इस द्विविध कारणसे व्यवहारोपयोगी अवस्थाको प्राप्त होता है, स्थूलरूपमें परिणत होता है। केवल उपादान कारण शक्तिरूपसे अवस्थित (अर्थात् अनभिव्यक्त) कार्यको व्यवहारोपयोगी अवस्थामें लानेके लिये पर्याप्त नहीं होता। यह सत्य है कि मृत्तिकामें घट-शक्ति है, किंतु निमित्तकारणके संयोगसे जबतक वह शक्ति स्थूलावस्थामें अभिव्यक्त नहीं होती, तबतक उससे किसी प्रकार अर्थक्रिया निष्पन्न नहीं हो सकती। शक्तिकी अभिव्यक्तिके निमित्त उसमें व्यापकका संयोग आवश्यक होता है। परंतु निमित्तकारण भी वस्तुतः परमेश्वरका ही शक्तिविशेष है, वह सर्वशक्तिमान्से भिन्न नहीं है। धर्माधर्मादिको 'निमित्त' कहा जाता है।*

* 'ऋग्वेद' और 'यजुर्वेद'में कहा गया है—विश्वनियन्ता धर्माधर्मरूप बाहुद्वय और पतत्ररूप (पतनशील—गतिशील) परमाणुपुञ्जके द्वारा जगत्-कार्यका सम्पादन करते हैं; परमाणु जगत्-कार्यका उपादान वा समवायि-कारण है और धर्माधर्म निमित्त कारण हैं। **'विश्वतश्चक्षुरुत विश्वतोमुखो विश्वतोबाहुरुत विश्वतस्पात्। सं बाहुभ्यां धमति सं पतत्रैर्द्यावाभूमी जनयन् देव एकः॥'** (ऋग्वेदसंहिता ८। १०। ११, शुक्लयजुर्वेदसंहिता १७। १९) 'अथर्ववेद'में विश्वसृष्टि-तत्त्वको समझानेमें सत्त्व, रज और तमोगुणात्मिका प्रकृति अर्थात् मायाशक्तिके साथ स्वमहिमप्रतिष्ठ परब्रह्मके विवाहका वर्णन किया गया है। सिसृक्षा-अवस्थापन्ना पारमेश्वरी मायाशक्ति परब्रह्मकी जायास्थानीया है। पतिके स्त्रीमें पुत्रादिरूपसे जन्म ग्रहण करनेके कारण स्त्रीका 'जाया' नाम हुआ है—**'पतिर्जायां प्रविशति गर्भो भूत्वा स मातरम्। तस्यां पुनर्नवो भूत्वा दशमे मासि जायते। तज्जाया जाया भवति यदस्यां जायते पुनः।'** (ऐतरेयब्राह्मण ७। ३) लौकिक विवाहमें जाया श्वशुरके घरसे लायी जाती है; अतः यहाँ जिज्ञास्य होगा, परमब्रह्मकी जायाको—मायाको—सत्त्व, रज और तमोगुणात्मिका प्रकृतिको—विवाहकालमें कहाँसे लाया जाता है ? परब्रह्मसे उनकी शक्ति—माया—प्रकृति कदापि वियुक्त होकर नहीं रहती, सुतरां परब्रह्मकी जायाको किसी दूसरे स्थानसे नहीं लाया जाता। मैं मायाके द्वारा बहुरूप होऊँगा—इस प्रकार प्राथमिक ईश्वरकृत संकल्प ही परब्रह्मका श्वशुरगृह है। जगत् रचनेके संकल्पवश सिसृक्षावस्था होती है। यह सिसृक्षावस्था ही परब्रह्मकी जायास्थानीया है। सृष्टिसमयमें सर्वज्ञ स्रष्टाका स्रष्टव्य-पर्यालोचनात्मक तप (**यः सर्वज्ञः सर्वविद् यस्य ज्ञानमयं तपः**—मुण्डकोपनिषद् १। १। ९) और प्राणिगणद्वारा अनुष्ठित पुण्यापुण्यात्मक सुख-दुःखफलोन्मुख परिपक्व कर्म—ये दो विद्यमान थे। **'यन्मन्युर्जायामावहत् संकल्पस्य गृहादधि। क आसं जन्याः के वराः क उ ज्येष्ठवरोऽभवत्।'** (अथर्ववेदसंहिता ११। ८। १) **'स्वमहिमप्रतिष्ठस्य परमब्रह्मणः सत्त्वरजस्तमोगुणात्मिकाया मायाशक्तेश्च प्राणिकर्मपरिपाकजनितसम्बन्धवशाज्जायमाना सोऽकामयत बहु स्यां प्रजायेय इत्यादिश्रुतिप्रतिपाद्या या पारमेश्वरी सिसृक्षावस्था सा लौकिकविवाहत्वेन रूप्यते। × × × स जायाम् आवहत् जायतेऽस्यां सर्वं जगत् इति जाया सिसृक्षावस्थापन्ना पारमेश्वरी महाशक्तिः।'** (अथर्ववेदभाष्य) **'तपश्चैवास्तां कर्म चान्तर्महत्यर्णवे'** (अथर्ववेदसंहिता ११। ८। २)।

इस धर्माधर्मरूप निमित्तके कारण नैमित्तिकका—धर्माधर्मादिरूप निमित्तके कार्य स्थूल शरीरका परिग्रह होता है। निमित्त और नैमित्तिक इन दोनोंका जो प्रसङ्ग—आसक्ति-अनुराग है, तदनुसार विविध स्थूलशरीरोंका परिणाम होता है। सूक्ष्मशरीर (अर्थात् लिङ्गदेह) निमित्त और नैमित्तिकके अनुरागानुसार नटके समान नाना स्थूलरूपमें रहता है। जिस प्रकार एक ही अभिनेता विभिन्न नाटकके अभिनयकालमें भिन्न-भिन्न व्यक्तिका आकार धारण करता है, उसी प्रकार एक ही लिङ्गशरीर मनुष्यके स्थूलशरीरमें प्रवेश करके मनुष्य तथा पशुके स्थूलशरीरमें प्रवेश करके पशु आदि नाना जातिको प्राप्त होता है। नियतिवश मनुष्यादि स्थूलशरीर सर्वत्र उत्पन्न हो सकते हैं; क्योंकि प्रकृति सर्वशक्तिमती है। प्रकृतिमें उपादानका अभाव नहीं है; प्रकृतिके बिभुत्व (सर्वव्यापिता) के कारण सूक्ष्मशरीर देव, मनुष्य, पशु, वृक्ष आदि रूपसे रहता है—**'पुरुषार्थहेतुकमिदं निमित्तनैमित्तिकप्रसङ्गेन । प्रकृतेर्विभुत्वयोगान्नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गम् ॥'** (सांख्यकारिका४२) **'पुरुषार्थेन हेतुना प्रयुक्तं निमित्तं धर्माधर्मादि नैमित्तिकं तेषु तेषु निकायेषु यथायथं षाट्कौशिकशरीरग्रहः, स हि धर्मादिनिमित्तप्रभवः, निमित्तं च नैमित्तिकं च तत्र यः प्रसङ्गः प्रसक्तिः तया नटवद् व्यवतिष्ठते लिङ्गं सूक्ष्मशरीरम्'** (वाचस्पति मिश्रकृत कौमुदी)। भगवान् पतञ्जलिने **'जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्'** (पातञ्जलदर्शन ४। २)—इस सूत्रसे इसी तत्त्वका विशदीकरण किया है। कार्यमात्र ही सत्त्व, रज और तम—इस गुणत्रयात्मिका प्रकृति और धर्माधर्मरूप निमित्त कारणसे संघटित होता है। मनुष्यके देह, मनुष्यकी इन्द्रियाँ, देवताके देह, देवताकी इन्द्रियाँ और पश्वादि इतर प्राणियोंके देह आदिमें प्रकृति ही उपादानकारण है। प्रकृति धर्माधर्मादि निमित्तकारणानुसार आपूरित—अनुप्रविष्ट होकर यथायोग्य परिणामको प्राप्त होती है। धर्म प्रकृतिका अपना धर्म (गुण) है, अधर्म विरुद्ध प्रकृतिका धर्म है। निमित्त (अर्थात् धर्म) प्रकृतिका प्रयोजक नहीं है, किंतु वह विधर्मका अभिभवकारी है; विधर्मका अभिभव होनेपर प्रकृति स्वयं अनुप्रविष्ट होकर अभिव्यक्त होती है—**निमित्तमप्रयोजकं प्रकृतीनां वरणभेदस्तु ततः क्षेत्रिकवत्'** (पा० द० ४। ३)। मानुष देवताके रूपमें उन्नत हो सकता है, राक्षस भी हो सकता है, पशु-पक्षी आदि भी हो सकता है; क्योंकि मनुष्यमें इन सबके होनेकी प्रकृति है। मानुष प्रकृतिका, राक्षसप्रकृतिका अथवा पश्वादिप्रकृतिका धर्म दैवप्रकृतिके विरुद्ध है अर्थात् वह दैवप्रकृतिका अधर्म है। इन विरुद्ध धर्मोंके निरोधरूप निमित्तसे दिव्य प्रकृति स्वयं अभिव्यक्त होती है। इसका नाम प्रकृतिका आपूरण वा अनुप्रवेश है। कुमार नन्दीश्वरके धर्म और कर्मविशेषके द्वारा अधर्मका निरोध करनेसे उनकी दैव प्रकृति इसी जीवनमें प्रादुर्भूत हो गयी थी, उससे उनका देवत्वपरिणाम हुआ था। इसी प्रकार राजा नहुषका पापसे दिव्यधर्म निरुद्ध होकर अजगररूपमें परिणाम हुआ था। जीवमात्रकी करण-शक्तिमें, उस करणमें जितने प्रकारके परिणाम हो सकते हैं, उनकी प्रकृति अन्तर्निहित रहती है; क्योंकि 'असत् कभी सत् नहीं होता,' 'सत् भी कभी असत् नहीं होता।' शान्तावस्थामें स्थित पदार्थ ही उदितावस्थामें आता है; अव्यक्तावस्थामें स्थित शक्तिकी व्यक्तावस्था-प्राप्ति ही 'कर्म' नामसे प्रसिद्ध पदार्थ है; अतः 'कारणकी आत्मभूता शक्ति है और शक्तिका आत्मभूत कार्य है—**'तस्मात्कारणस्यात्मभूता शक्तिः शक्तेश्चात्मभूतं कार्यम्।'** (शारीरकभाष्य २। १। १८) कार्यनियमार्था शक्यता अर्थात् कार्यरूपमें परिणत होनेकी योग्यता ही 'शक्ति' शब्दका अर्थ है। कार्यमात्र ही कारणगर्भमें सूक्ष्मभावसे—योग्यतारूपसे रहता है। सत्कार्यवादी सांख्यदर्शनका सिद्धान्त है कि कार्यशक्तिमत्त्व ही उपादानकारणत्व है अर्थात् कार्यकी अनागतावस्था ही—जो कारणगर्भमें योग्यतारूपसे रहती है, वही 'कार्यशक्ति' है—**'शक्तस्य शक्यकरणात्'** (सा० द० १। १ १७)। **'कार्यशक्तिमत्त्वमेवोपादानकारणत्वम् । सा शक्तिः कार्यस्यानागतावस्थैव'** (सांख्यप्रवचनभाष्य)। दुर्गाचार्यने 'निरुक्तटीका' में कहा है—निखिल भावविकार ही सर्वार्थप्रसवशक्तित्वनिबन्धन कारणात्मभावसे सूक्ष्मावस्थामें—शक्तिरूपसे रहता है। इस प्रकारके सिद्धान्तमें युक्ति यह है कि अविद्यमानका—जो वस्तुतः नहीं है, जो वस्तुतः असत् है, उसका—जन्म नहीं होता, असत्का सद्भाव असम्भव है; अतएव स्वीकार करना ही होगा कि कार्यमात्र ही कारणगर्भमें शक्तिरूपसे—योग्यतारूपसे रहता है। स्थूलभावसे रहकर स्थूल (अर्थात् कार्य) सूक्ष्मसे (कारणसे) कदापि वियुक्त होकर नहीं रहता, करणसे कार्य वस्तुतः अभिन्न है। 'ऐतरेय-आरण्यक' श्रुतिमें स्पष्ट उक्त हुआ है कि विश्वजगत्का प्रत्येक पदार्थ ही भोक्तृ-शक्ति और भोग्यशक्तिका अर्थात् पितृशक्ति और मातृशक्तिका अर्थात् कारणशक्ति और कार्यशक्तिका मिलित रूप है—**'तदिदं सर्वमत्ति सेयमित्याधात्री अत्ता ह वा आद्यो**

भवति न तस्येशे यन्नाद्यात्रैनं नाद्युः' (ऐतरेय-आरण्यक)। 'अत्ता योऽयं लोके भोक्ता, यश्च आद्यः भोग्यः पदार्थः तदुभयरूपेण सर्वात्मकं भवति इत्यर्थः' (ऐतरेयआरण्यकभाष्य)। अर्थात् जगत्में ऐसा कोई भी पदार्थ नहीं है, जो निरवच्छिन्न भोग्यशक्ति हो। 'मैत्र्युपनिषद्' में पुरुषको भोक्ता और प्रकृति तथा प्राकृतिक वस्तुसमूहको भोग्य कहा गया है—'तस्माद् भोक्ता पुरुषो भोग्या प्रकृतिः तत्स्थो भुङ्क्ते।' 'ताण्ड्यमहाब्राह्मण' में उक्त हुआ है—भूर्लोक और द्युर्लोक—ये दो सृष्टिके पूर्व परस्पर एकभूत थे, बादमें सृष्टिकार्य-निष्पत्तिके निमित्त इन्हें वियुक्त किया गया अर्थात् परस्पर-संयुक्त स्त्रीशक्ति और पुंशक्तिको विभक्त किया गया। वियुक्त होनेके उपरान्त भूर्लोक और द्युलोकने कहा, 'आइये, हम परस्पर विवाहसूत्रसे (परस्पर उपकार्य-उपकारक-भावसे) सम्बद्ध हो जायँ; हममें एकने जो तत्त्व पाया है, एकमें जो तत्त्व है, वह हम दोनोका ही हो जाय। मैंने जो तत्त्व पाया है, तुमने वह नहीं पाया; और तुमने जो तत्त्व पाया है, मैंने वह नहीं पाया। परस्पर मिलित होकर जैसे परस्परका अभाव दूर किया जाता है, आइये, हम उसी भावसे परस्पर मिलें, परस्पर विवाहसूत्रसे बद्ध होकर पूर्ण हो जायँ—'इमौ वै लोकौ सहास्तां तौ वियन्तावब्रूतां विवहावहै सह नावस्त्विति' (ताण्ड्यमहाब्राह्मण ७। ९। २२)। 'विवाहशब्दोऽनुवादः परस्परोपकार्योपकारकभावं करवावहै इत्यर्थः' (भाष्य)।—सुतरां, जगत्में समस्त पदार्थ ही अन्योन्यमिथुनवृत्तिक हैं, अन्योन्याश्रयवृत्तिक हैं, इतरेतराश्रयी हैं। भगवान् पतञ्जलिने 'जात्यन्तरपरिणामः प्रकृत्यापूरात्' (पा० द० ४। २)—इस सूत्रसे उक्त श्रौत रहस्यका ही उल्लेख किया है। एक मूलप्रकृति धर्माधर्म-संस्कारावच्छिन्न होकर विभिन्न आन्तर और बाह्य प्रकृति-रूपमें अभिव्यक्त हुई है। अनादिकर्मसंस्कारवती प्रकृतिसे ही वस्तुतः विविध विचित्र जगत्का परिणाम होता है। जो दार्शनिक शक्तिका सातत्य और भूतका अनश्वरत्व स्वीकार करते हैं, वे कर्मके अनादित्वको अनिश्चितार्थक नहीं कहेंगे। विश्वजगत्का क्षुद्र, बृहत् सर्वविध परिवर्त्तन ही निर्दिष्ट नियमके अधीन है। परिणाममात्र ही निर्दिष्ट नियमाधीन है, समस्त परिणाम ही निर्दिष्ट क्रमानुसार होता है। समस्त कार्यका कारण स्थिर रहा है, जिस-जिस कारणसमवायसे जो-जो कार्य संघटित हुए हैं, उस-उस कारणके समवायसे चिरकाल ही उस-उस कार्यकी उत्पत्ति होगी।

स्पन्दरूपिणी, अवश्यम्भाविनी, समस्तकल्पगामिनी, ब्राह्मी चित्शक्तिको 'नियति' अथवा 'दैव' कहा जाता है। यह पदार्थ इस प्रकारसे स्पन्दित होगा, इस रूपसे इस समयमें उत्पन्न होगा—इत्याकारक अवश्यम्भाविताको 'नियति' वा 'दैव' कहते हैं। यह नियति सृष्टिके आदिमें 'यह अग्नि सर्वदा इस प्रकार ऊर्ध्वज्वलनादिस्वभावसम्पन्न होगा' इस प्रकार अक्षर परब्रह्मकी संकल्पात्मक वृत्तिरूपसे उद्रिक्त होती है। यह 'नियति' ही महासत्ता, महाचिति, महाशक्ति, महादृष्टि, महाक्रिया, महोद्भव, महास्पन्द और महात्माके नामसे अभिहित होती है। कल्पारम्भसे कल्पान्तपर्यन्त पुरुष-क्रियामूलक जो कुछ व्यवहार चल रहा है, वह इसी नियतिके वशसे होता है। इस अवश्यम्भाविनी नियतिकी इच्छा किसीकी भी बुद्धिके द्वारा लङ्घनीय नहीं हो सकती।* यह नियति पुरुषकाररूपसे कर्मकी नियन्त्री है। जब यह पुरुष-प्रयत्नमें विवक्षित नहीं होती, जब यह ईश्वरसंकल्पमात्रमें ही रहती है, तब यह 'नियति-पदवाच्य होती है और जब सृष्टिफलसम्पृक्त होती है, तब इसे 'पुरुषकार' के नामसे अभिहित किया जाता है। पुरुषकारमें परिणत न होनेपर नियतिसे किसी प्रकार फलकी प्राप्ति नहीं होती, पुरुषकारमें परिणत होनेपर ही नियति सफल होती है। सर्वगामी ब्रह्म ही वस्तुतः 'नियति' के रूपसे स्फुरित होता है। ब्रह्मकी स्पन्दरूपिणी अवश्यम्भाविनी चित्-शक्ति अर्थात् नियति अर्थात् दैव अर्थात् अदृष्ट और वेदात्मा विश्वप्राण हिरण्यगर्भ भिन्न पदार्थ नहीं हैं। ईश्वर-संकल्पको ही नियति कहा जाता है।

अचेतन कदापि किसी कर्मका स्वतन्त्र कर्ता, किसी कर्मकी प्रवृत्ति और निवृत्तिका प्रभु नहीं हो सकता। इसलिये वेदमें और वेदमूलक शास्त्रोंमें 'भूत' और भौतिक शक्तिकी अधिष्ठात्री देवताका वर्णन आता है। कर्मफल-प्राप्ति आकाङ्क्षित होनेपर देवताज्ञान परमावश्यक होता है। देवता-ज्ञान न रहनेपर श्रौत और स्मार्त्त सदाचारादि कर्मकी फल-प्राप्ति नहीं होती। जिनकी पूजा करनी है, उनके साथ

* अस्तीह नियतिर्ब्राह्मी चिच्छक्तिः स्पन्दरूपिणी।
अवश्यभवितव्यैकसत्ता सकलकल्पगा॥
आदिसर्गे हि नियतिर्भाववैचित्र्यमक्षयम्।
अनेनेत्थं सदा भाव्यमिति सम्पद्यते परम्॥
(योगवासिष्ठ, उत्पत्तिप्रकरण, ६२वाँ सर्ग)

पूजकका परिचय न रहनेपर उनकी पूजा नहीं हो सकती। अतएव देवता कौन पदार्थ है—इसका ज्ञान परम आवश्यक है।

'दिव्' धातुके उत्तर 'अच्' प्रत्ययसे 'देव' पद सिद्ध होता है, और 'देव' शब्दके उत्तर 'तल्' प्रत्ययसे ('देवात्तल्' पाणिनिसूत्र ३। १। १३४) 'देवता' पद निष्पन्न हुआ है। पाणिनिदेवप्रणीत धातु-पाठमें 'दिव्' धातुका निम्नलिखित दस प्रकारका अर्थ बताया गया है—(१) क्रीडा, (२) विजिगीषा (जय करनेकी इच्छा), (३) व्यापार (कर्म), (४) द्युति (ज्योति—प्रकाश), (५) स्तुति (गुण-कीर्त्तन), (६) मोद (हर्ष, प्रसन्नता), (७) मद, (८) स्वप्न, (९) कान्ति और (१०) गति। वेद और वेदमूलक शास्त्रोंमें जिस अर्थमें 'देवता' शब्दका प्रयोग हुआ है, उसका विचार करनेसे बोधगम्य होगा कि 'दिव' धातुके इस दशविध अर्थका कोई-न-कोई अर्थ उसमें संगत हुआ है। महर्षि यास्कने कहा है—'देवो दानाद् वा दीपनाद् वा द्योतनाद् वा द्युस्थानो भवतीति वा (निरुक्त)' अर्थात् जो ऐश्वर्यका दान करते हैं, हमारे अभिमत (ईप्सित—प्रयोजनीय) पदार्थ हमें देते हैं, अथवा तेजोमय होनेके कारण पदार्थको प्रकाशित करते हैं, पदार्थका स्वरूप प्रकटित करनेमें समर्थ हैं, अथवा जो सामान्यतः 'द्युस्थान' अर्थात् स्वर्गवासी हैं, वे देवता हैं। जो क्रीडा करते हैं, जिनकी क्रिया ही विश्वजगत्‌की सृष्टि-स्थिति-प्रलयका कारण है, जो असुरोंके विजिगीषु अर्थात् पापनाशक हैं, जो सर्वभूतोंमें विराजमान हैं, व्यावहारिक जगत्‌में जो स्थावर-जङ्गमात्मक नाना रूपोंसे व्यवहृत होते हैं, जो द्योतन-स्वभाव हैं, जिनके प्रकाशसे निखिल वस्तुका प्रकाश होता है, जो सबके स्तुतिभाजन हैं, विश्वजगत् जिनके गुणोंका कीर्तन करता है—जिनकी विभूति अर्थात् ऐश्वर्यका वर्णन करता है, जो सर्वत्र गतिशील हैं—सर्वव्यापक हैं, जो ज्ञानमय हैं, वे 'देव' हैं—देवता हैं। महर्षि यास्कने अन्यत्र कहा है—'अथातो दैवतं तद्यानि नामानि प्राधान्यस्तुतीनां देवतानां तद् दैवतमाचक्षते' (निरुक्त, दैवत-काण्ड)। अर्थात् जिन पदार्थोंका 'धर्म' प्रधानतः जिन मन्त्रोंमें स्तुत *—वर्णित—व्याख्यात हुआ है, मन्त्रका देवता कहनेसे उन पदार्थोंको जानना चाहिये। 'यावन्तो मन्त्रा सर्वशाखासु तेषु यानि गुणपदानि लक्षणोद्देशतः तानि सर्वाण्येव व्याख्यातानि (निरुक्तटीका)। महर्षि कात्यायनप्रणीत 'सर्वानुक्रमणी'में कहा गया है—'यस्य वाक्यं स ऋषिः । या तेनोच्यते सा देवता।' अर्थात् जिसका वाक्य है, वह ऋषि है; ऋषिके द्वारा जो उक्त होता है, वह देवता है। महर्षि शौनकने भी बृहद्देवतामें कहा है—

अर्थमिच्छन्नृषिर्देवं यं यमाहायमस्त्विति।
प्राधान्येन स्तुवञ्छक्त्या मन्त्रस्तद्देव एव सः॥

(शेष आगे)

अब मेरा जीवन भगवान्‌के दिव्य सद्गुणोंसे भर गया है

मैंने अबतक अपनेको स्वतन्त्र मान रखा था। मनमें एक अभिमानका समुद्र उछलता था और सारे दैवी गुण उसमें डूब गये थे। अब मुझे यह अनुभव हो गया कि मैं तो कल्याणमय परम सुहृद् अनन्त-अचिन्त्य-सद्‌गुण-निधि भगवान्‌का यन्त्रमात्र हूँ। वे यन्त्री हैं। मुझमें अपना कुछ भी नहीं है। मेरा 'मैं' भी उन्हींका है। इसीसे उनके सद्गुण मुझमें सहज ही आ गये हैं।

अब मैं जहाँ घृणा है, वहाँ प्रेम प्रदान करता हूँ; जहाँ विषाद है, वहाँ आनन्द प्रदान करता हूँ; जहाँ अपराध है, वहाँ क्षमा प्रदान करता हूँ; जहाँ अन्धकार है, वहाँ प्रकाश प्रदान करता हूँ; जहाँ नास्तिकता है, वहाँ आस्तिकता प्रदान करता हूँ और जहाँ विषयासक्ति है, वहाँ भगवदनुराग प्रदान करता हूँ।

अब मेरा जीवन भगवान् और भगवान्‌के दिव्य सद्‌गुणोंसे भर गया है।

* महर्षि शौनकने कहा—'स्तुतिस्तु नाम्ना रूपेण कर्मणा बान्धवेन च। (बृहद्देवता) अर्थात् किसी यथार्थका नाम, रूप, कर्म और बन्धुबर्गके द्वारा विवरण (व्याख्या) का नाम स्तुति है।

साधन तेज न होनेमें अश्रद्धा ही प्रधान कारण है

(लेखक—श्रद्धेय श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

कितने ही साधक यह प्रश्न किया करते हैं कि 'हमारा साधन पहलेकी अपेक्षा शिथिल प्रतीत होता है; इसमें ईश्वर-कृपाकी कमी कारण है या प्रारब्ध कारण है अथवा वर्तमानका दूषित वातावरण और कुसङ्ग कारण है या श्रद्धाकी कमी कारण है अथवा अन्य ही कोई कारण है ?'

इसका उत्तर यह है कि ईश्वरकी कृपा तो सबपर पूर्ण रही है और है। हमलोग अपने ऊपर ईश्वरकी जितनी कृपा मानते हैं, उससे कहीं अधिक है। किंतु मनुष्य ईश्वरकी कृपा अपने ऊपर जितनी मानता है, उतना ही उसे लाभ होता है। इसलिये ईश्वरकी अपने ऊपर पूर्ण कृपा मानकर साधनविषयक विशेष लाभ उठाना चाहिये।

प्रारब्ध साधनमें बाधक नहीं है। जब मनुष्यपर कोई आपत्ति आती है या उसके कोई रोग हो जाता है, तब वह श्रद्धाकी कमी और आत्मबलकी कमीके कारण ही उस सांसारिक आपत्ति या रोगका बहाना लेकर प्रारब्धपर दोष देने लगता है।

साधकको भगवान्‌की दयाके बलपर वर्तमानके दूषित वातावरणसे भी नहीं डरना चाहिये, किंतु उसके सङ्गसे दूर रहना चाहिये; क्योंकि श्रद्धाहीन, संशयात्मा, नास्तिक, दुराचारी, दुर्व्यसनी और दुर्गुणी दुष्ट पुरुषोंका सङ्ग बहुत हानिकारक और आत्माका पतन करनेवाला है। साधकके लिये जिस प्रकार महापुरुषोंका सङ्ग बहुत लाभदायक है, उसी प्रकार अश्रद्धालु नास्तिक पुरुषोंका सङ्ग बहुत ही घातक है। अतः साधकको ऐसे पुरुषोंके सङ्गसे सदा ही दूर रहना चाहिये। यदि परिस्थितिवश उनका सङ्ग हो जाय तो उनके दोषोंसे सावधान रहना चाहिये। जैसे अपनी स्त्री, पुत्र या प्रेमीके हैजा, प्लेग, कुष्ठ या टी० बी० आदि कोई प्राणनाशक संक्रामक रोग हो जाता है तो बुद्धिमान् मनुष्य उसके इलाजके लिये दवा, पथ्य और वैद्यकी सलाह आदिकी चेष्टा करते हुए भी उस रोगसे स्वयं सावधान रहते हैं, वैसे ही जिसमें उपर्युक्त दोष हों, उससे घृणा-द्वेष न करके, उसमें जो दुर्गुण, दुराचार, दुर्व्यसन आदि भयंकर संक्रामक रोग हैं, उनसे सावधान रहना चाहिये।

साधन कमजोर होनेमें वस्तुतः श्रद्धा और विश्वासकी कमी ही प्रधान कारण है; अतः साधनकी उन्नतिके लिये सबसे बढ़कर उपाय श्रद्धा ही है। भक्तिपूर्वक विश्वास होना ही श्रद्धा है। (१) ईश्वर, (२) महापुरुष, (३) भक्ति-ज्ञान-वैराग्य-सदाचारके प्रेरक श्रुति, स्मृति, इतिहास, पुराण आदि धार्मिक सत्-शास्त्र और (४) परलोक—ये चार श्रद्धा करनेके योग्य हैं। यदि उपर्युक्त सत्-शास्त्रोंके वचन कहीं समझमें न आयें या कहीं उनके सम्बन्धमें अपने आत्मामें शङ्का उत्पन्न हो जाय तो महापुरुषोंके आचरणोंको लक्ष्य बनाकर उनके अनुसार आचरण करना चाहिये। महाभारतमें यक्षके प्रश्नोंका उत्तर देते समय महाराज युधिष्ठिरने बतलाया है—

तर्कोऽप्रतिष्ठः श्रुतयो विभिन्ना
नैको ऋषिर्यस्य मतं प्रमाणम्।
धर्मस्य तत्त्वं निहितं गुहायां
महाजनो येन गतः स पन्थाः॥

(वन० ३१३। ११७)

'तर्ककी कहीं स्थिति नहीं है, श्रुतियाँ भी भिन्न-भिन्न हैं; एक ही ऋषि नहीं है कि जिसका मत प्रमाण माना जाय तथा धर्मका तत्त्व गुहामें छिपा

हुआ—अत्यन्त गूढ़ है; अतः जिस मार्गसे महापुरुष गये हैं, वही मार्ग असली मार्ग है।'

अथवा महापुरुष सम्मुख विद्यमान हों तो उनसे पूछकर उनके कहे अनुसार आचरण करना चाहिये। भगवान्‌ने गीतामें कहा है—

यद्यदाचरति श्रेष्ठस्तत्तदेवेतरो जनः।
स यत्प्रमाणं कुरुते लोकस्तदनुवर्तते॥
(३।२१)

'श्रेष्ठ पुरुष जो-जो आचरण करता है, अन्य पुरुष भी वैसा-वैसा ही आचरण करते हैं। वह जो कुछ प्रमाण कर देता है, समस्त मनुष्य-समुदाय उसीके अनुसार बर्तने लग जाता है।'

यदि महापुरुष न मिलें तो अपनी श्रद्धा, विश्वास, रुचि और स्वभावके अनुसार जो अपने आत्माका हितकर साधन प्रतीत हो, उसीको करे। कल्याणप्रद धर्मके चार मूल हैं। श्रीमनुजीने कहा है—

श्रुतिः स्मृतिः सदाचारः स्वस्य च प्रियमात्मनः।
एतच्चतुर्विधं प्राहुः साक्षाद् धर्मस्य लक्षणम्॥
(मनु० २।१२)

'वेद, स्मृति, महापुरुषोंका उत्तम आचरण और अपने आत्माकी रुचिके अनुसार परिणाममें हितकारक साधन—धर्मका यह चार प्रकारका साक्षात् लक्षण श्रेष्ठ पुरुषोंद्वारा कहा गया है।'

इसलिये ईश्वर, महापुरुष, सत्-शास्त्र और परलोक-पर परम श्रद्धा करके साधनके लिये तत्परताके साथ प्रयत्न करना चाहिये। मनमें कभी निराशाको स्थान नहीं देना चाहिये; क्योंकि निराशा उत्साहको भङ्ग करके मनुष्यका पतन कर देती है।

आत्माके उद्धारके लिये संसारमें श्रद्धासे बढ़कर कोई उपाय नहीं है। केवल श्रद्धासे ही परमात्माकी प्राप्ति हो सकती है।

श्रीनारदपुराणके पूर्वभागके प्रथम पादमें श्रीसनत्कुमार-जीने नारदजीसे कहा है—

श्रद्धापूर्वाः सर्वधर्मा मनोरथफलप्रदाः।
श्रद्धया साध्यते सर्वं श्रद्धया तुष्यते हरिः॥
श्रद्धावाँल्लभते धर्मं श्रद्धावानर्थमाप्नुयात्।
श्रद्धया साध्यते कामः श्रद्धावान् मोक्षमाप्नुयात्॥
(४।१, ६)

'नारद! श्रद्धापूर्वक आचरणमें लाये हुए ही सब धर्म मनोवाञ्छित फल देनेवाले होते हैं। श्रद्धासे सब कुछ सिद्ध होता है और श्रद्धासे ही भगवान् श्रीहरि संतुष्ट होते हैं। श्रद्धालु पुरुषको धर्मका लाभ होता है, श्रद्धालु ही धन पाता है, श्रद्धासे ही कामनाओंकी सिद्धि होती है और श्रद्धालु पुरुष ही मोक्ष पाता है।'

श्रीस्कन्दपुराणमें नारदजीने राजा धर्मवर्मासे कहा है—

कायक्लेशैश्च बहुभिर्न नैवार्थस्य राशिभिः।
धर्मः सम्प्राप्यते सूक्ष्मः श्रद्धा धर्मोऽद्भुतं तपः॥
श्रद्धा स्वर्गश्च मोक्षश्च श्रद्धा सर्वमिदं जगत्।
सर्वस्वं जीवितं चापि दद्यादश्रद्धया यदि॥
नाप्नुयात् स फलं किंचिच्छ्रद्दधानस्ततो भवेत्।
श्रद्धया साध्यते धर्मो महद्भिर्नार्थराशिभिः॥
(स्क० मा० कुमा० ३।२९–३१)

'राजन्! शरीरको बहुत क्लेश देनेसे तथा धनकी राशियोंसे सूक्ष्म धर्मकी प्राप्ति नहीं होती। श्रद्धा ही धर्म और अद्भुत तप है, श्रद्धा ही स्वर्ग और मोक्ष है तथा श्रद्धा ही यह सम्पूर्ण जगत् है। यदि कोई मनुष्य बिना श्रद्धाके अपना सर्वस्व दे दे अथवा अपना जीवन ही न्योछावर कर दे, तो भी वह उसका कोई फल नहीं पाता; इसलिये सबको श्रद्धालु होना चाहिये। श्रद्धासे ही धर्म सिद्ध होता है, धनकी बहुत बड़ी राशिसे नहीं।'

श्रीरामचरितमानसमें भी बतलाया गया है—

श्रद्धा बिना धर्म नहिं होई। बिनु महि गंध कि पावइ कोई॥
कवनिउ सिद्धि कि बिनु बिस्वासा। बिनु हरि भजन न भव भय नासा॥

बिनु बिस्वास भगति नहिं तेहि बिनु द्रवहिं न रामु ।
राम कृपा बिनु सपनेहुँ जीवन लह बिश्रामु ॥
(राम० उत्तर० ८९ । २, ४; ९० क)

अतः समस्त साधनोंकी सिद्धिमें श्रद्धा ही मूल कारण है । जो मनुष्य श्रद्धेयकी आज्ञा पाकर उसके अनुसार आचरण करता है, वह श्रद्धालु है । उससे अधिक श्रद्धालु वह है, जो श्रद्धेयका संकेतमात्र मिलते ही तदनुसार कार्य करने लगता है । उसकी अपेक्षा वह और अधिक श्रद्धालु है, जो अपने मनके विपरीत होनेपर भी उस कार्यको करता है तथा उससे भी अधिक श्रद्धालु वह है, जो मनके विपरीत आज्ञाको पाकर भी बड़ी प्रसन्नतासे उसे करता है । एवं श्रद्धेयकी आज्ञाके लिये अत्यन्त प्रसन्नतापूर्वक अपने-आपको न्योछावर कर देनेवाला पुरुष तो बहुत ही ऊँची श्रेणीका श्रद्धालु है । एक ओर अपनी मान्यता है और दूसरी ओर श्रद्धेयकी मान्यता है तो ऐसी स्थितिमें अपनी मान्यतापर कोई ध्यान न देकर श्रद्धेयकी बातको प्रत्यक्षकी भाँति समझनेवाला मनुष्य उच्चकोटिका श्रद्धालु है तथा प्रत्यक्ष-से भी बढ़कर श्रद्धेयकी बातका आदर करनेवाला परम श्रद्धालु है । भाव यह कि अपनी जो मान्यता, सिद्धान्त और समझ है—उन सबका श्रद्धेयकी बातपर बलिदान कर देना—यह परम श्रद्धालुका लक्षण है । जितनी अधिक श्रद्धा होती है, उतना ही उसमें बल आ जाता है । श्रद्धासे मनुष्यमें धीरता, वीरता, गम्भीरता, निर्भयता, शूरता आदि अनेक गुण प्रत्यक्ष आ जाते हैं । उसके मनमें अटल निश्चय हो जाता है कि श्रद्धेय जो बात कह रहे हैं, वह सोलहो आने—अक्षरशः वैसी ही है । अतः जिसके मनमें जितना अधिक निश्चय है, उसकी उतनी ही अधिक श्रद्धा समझी जाती है ।

भक्त प्रह्लादके हृदयमें यह विश्वास था कि भगवान् सब जगह हैं । उनके विश्वासके बलपर भगवान्को खंभेसे प्रकट होना पड़ा । यह श्रद्धाकी महिमा है । भक्त प्रह्लादके दृढ़ निश्चय और विश्वासके बलसे उनके लिये अग्नि भी शीतल हो गयी । भगवान्की कृपासे असम्भव भी सम्भव और सम्भव भी असम्भव हो जाता है। अग्निका स्वाभाविक धर्म है जलाना; किंतु प्रह्लादको जब अग्निमें बैठाया गया, उस समय प्रह्लाद अग्निको परमात्मा-के रूपमें देख रहे थे; अतः अग्निकी शक्ति नहीं कि उनको जला दे । प्रह्लादके निश्चयसे प्रह्लादको तो अग्निमें भी भगवान् ही स्थित दिखलायी पड़ते थे । उस समय प्रह्लादने हिरण्यकशिपुसे कहा—

तातैष वह्निः पवनेरितोऽपि
न मां दहत्यत्र समन्ततोऽहम् ।
पश्यामि पद्मास्तरणास्तृतानि
शीतानि सर्वाणि दिशाम्मुखानि ॥
(विष्णुपु० १ । १७ । ४७)

'तात ! यहाँ पवनसे प्रेरित हुआ भी यह अग्नि मुझे नहीं जला सकता । मुझको तो सभी दिशाएँ ऐसी शीतल प्रतीत होती हैं मानो मेरे चारो ओर कमलके आसन बिछे हुए हों ।'

इसका कारण यही था कि उनका सर्वत्र भगवद्भाव था । हिरण्यकशिपुकी आज्ञासे जब दैत्योंने उनपर अस्त्र-शस्त्रोंका प्रहार किया, तब उन्होंने उनसे स्पष्ट कहा था—

विष्णुः शस्त्रेषु युष्मासु मयि चासौ व्यवस्थितः ।
दैतेयास्तेन सत्येन मा क्रमन्त्वायुधानि मे ॥
(विष्णुपु० १ । १७ । ३३)

'दैत्यो ! भगवान् विष्णु तो शस्त्रोंमें, तुमलोगोंमें और मुझमें—सर्वत्र ही स्थित हैं । इस सत्यके प्रभावसे इन अस्त्र-शस्त्रोंका मेरे ऊपर कोई प्रभाव न हो ।'

जब हिरण्यकशिपुकी आज्ञासे दिग्गजोंने प्रह्लादको दाँतोंसे रौंदा, तब उनके हजारों दाँत उनकी छातीसे टकराकर टूट गये । उस समय प्रह्लादने पिताको बतलाया—

दन्ता गजानां कुलिशाग्रनिष्ठुराः
शीर्णा यदेते न बलं ममैतत् ।
महाविपत्तापविनाशनोऽयं
जनार्दनानुस्मरणानुभावः ॥
(विष्णुपु० १ । १७ । ४४)

'ये जो हाथियोंके वज्रके समान कठोर दाँत टूट गये हैं, इसमें मेरा कोई बल नहीं है । यह तो श्रीजनार्दनभगवान्‌के महान् विपत्ति और क्लेशोंको नष्ट करनेवाले स्मरणका ही प्रभाव है !'

भक्त प्रह्लादका भगवान्‌पर कितना दृढ़ विश्वास था ! इसी कारण वे सर्वथा निर्भय हो गये थे । उन्होंने स्वयं अपने पिता हिरण्यकशिपुसे कहा था—

भयं भयानामपहारिणि स्थिते
मनस्यनन्ते मम कुत्र तिष्ठति ।
यस्मिन् स्मृते जन्मजरान्तकादि-
भयानि सर्वाण्यपयान्ति तात ॥
(विष्णुपु० १ । १७ । ३६)

'तात ! जिनके स्मरणमात्रसे जन्म, जरा और मृत्यु आदिके समस्त भय दूर हो जाते हैं, उन सकल-भयहारी अनन्तके हृदयमें स्थित रहते हुए मुझे भय कहाँ हो सकता है ।'

उन्होंने केवल कहा ही नहीं, वास्तवमें उनमें निर्भयता थी । भगवान्‌ने उनके सम्मुख ऐसा भयंकर नृसिंहरूप प्रकट किया, जिसको देखकर विश्वको नष्ट करनेवाला काल भी डर जाता, संसारकी उत्पत्ति करनेवाले ब्रह्मा भी भयभीत हो गये, जगज्जननी लक्ष्मीजी भी भयभीत हो गयीं । सारे देवता और ऋषिगण हाथ जोड़कर मारे भयके दिव्य स्तोत्रोंसे उनकी स्तुति करने लगे । ऐसे कालके समान भयंकर रूपको देखकर भी प्रह्लादको भय नहीं लगा । वे निर्भय होकर भगवान्‌के पास चले गये । उनके मनमें न तो भयका भाव पहले आया और न परिणाममें ही । उनके निश्चयमें तो यह था कि ये साक्षात् मेरे प्रभु भगवान् ही हैं, इनसे मुझे क्या भय है । भगवान्‌का वह बाहरी भयानक रूप दुनियाके लिये था, प्रह्लादके लिये नहीं । (श्रीमद्भा० स्क० ७ अ० ८-९)

इसी प्रकार गुरुभक्त एकलव्य भीलकी गुरु द्रोणाचार्यके प्रति बड़ी भारी श्रद्धा थी । वह द्रोणाचार्यके पास धनुर्विद्या सीखने गया; किंतु उन्होंने उसको निषाद होनेके कारण धनुर्विद्याविषयक शिक्षा नहीं दी । यद्यपि एकलव्यकी यह श्रद्धा सकाम ही थी, फिर भी उसको यह विश्वास था कि 'द्रोणाचार्य मुझको शिष्य नहीं बनाते तो कोई बात नहीं । मैंने उनको गुरु बना लिया है; अतः जो इनके शिष्य इनसे लाभ उठा रहे हैं, वह लाभ मैं भी उठा लूँगा ।' वह द्रोणाचार्यके चरणोंमें प्रणाम करके वनमें चला गया । वहाँ उसने द्रोणाचार्यकी मिट्टीकी मूर्ति बनाकर उसीमें आचार्यकी परमोच्च भावना करके नियमपूर्वक स्वयं ही धनुर्विद्याका अभ्यास किया । उस परम श्रद्धाके प्रभावसे उसने बाणविद्यामें ऐसी कुशलता प्राप्त कर ली कि जिसके सामने द्रोणाचार्यके अत्यन्त प्रिय शिष्य अर्जुनको भी आश्चर्यचकित होना पड़ा । बाणविद्याके तत्त्वको द्रोणाचार्यकी मिट्टीकी मूर्तिसे एकलव्यने जितना सीखा, उतना अर्जुन साक्षात् द्रोणाचार्यसे भी नहीं सीख सके (महा० आदि० अ० १३१) ।

राजा द्रुपदकी श्रद्धा भी सकाम थी । परंतु वह श्रद्धा ही नहीं, परम श्रद्धा थी । उन्होंने संतानकी प्राप्तिके लिये घोर तपस्या करके भगवान् शंकरको संतुष्ट किया, (तब भगवान् शंकरने उनको कन्या-प्राप्तिका वर दिया । इसपर) राजा द्रुपदने कहा—'भगवन् ! मैं पुत्र चाहता हूँ; अतः मुझे कन्या नहीं, पुत्र प्राप्त हो ।' इसपर श्रीमहादेवजीने कहा—'राजन् ! तुम्हें पहले कन्या प्राप्त होगी, फिर वही पुरुष हो जायगी । मैंने जो कुछ कहा है, वह कभी मिथ्या नहीं हो

सकता ।' इस वरदानके फलस्वरूप जब उन्हें कन्या प्राप्त हुई, तब भगवान् शङ्करके वचनोंपर दृढ़ विश्वास और श्रद्धा होनेके कारण राजा द्रुपदने अपनी लड़कीको लड़का ही घोषित किया और लड़केके समान ही उसके जातकर्मादि संस्कार कराकर पुरुष-जैसा ही 'शिखण्डी' नाम रखा। इतना ही नहीं, उसका विवाह भी दशार्णदेशके राजा हिरण्यवर्माकी कन्याके साथ कर दिया। फिर उनकी श्रद्धाके बलसे शिखण्डी समयपर पुरुषत्वको प्राप्त हो गया (महा० उद्योग० १८८–१९२)।

जबालाके पुत्र सत्यकामकी गुरुके प्रति बड़ी अनुपम श्रद्धा थी। वे ब्रह्मको जाननेकी इच्छासे गौतमगोत्रीय महर्षि हारिद्रुमतके समीप गये। वहाँ वार्तालाप होनेपर गुरुने चार सौ अत्यन्त कृश और दुर्बल गौएँ अलग करके सत्यकामसे कहा—'सौम्य ! तू इन गौओंके पीछे-पीछे जा।' बस, गुरुकी इसी आज्ञाको शिरोधार्य करके वे अत्यन्त श्रद्धा, उत्साह और हर्षके साथ उन गौओंको वनकी ओर ले चले। जाते समय उन्होंने गुरुसे निवेदन किया—'इनकी संख्या एक हजार पूरी हो जानेपर मैं लौटूँगा।' वे उन गौओंको तृण और जलकी अधिकतावाले निरापद जंगलमें ले जाकर चराने लगे। जब उनकी संख्या पूरी एक हजार हो गयी, तब लौटे। लौटते समय श्रद्धा-विश्वासपूर्वक गुरु-आज्ञा-पालनके प्रभावसे मार्गमें ही उनको वृषभ (साँड), अग्नि, हंस और मद्गु नामक जलमुर्ग पक्षीके द्वारा ब्रह्मज्ञान प्राप्त हो गया (छान्दोग्य उप० ४ । ४–९)। यह है श्रद्धाका फल !

भक्ति और विश्वासपूर्वक दृढ़ निश्चयको ही श्रद्धा कहते हैं। दृढ़ निश्चयमें बड़ा भारी बल होता है। उससे मनमें इतना बल आ जाता है कि फिर उसका कोई भी मुकाबला नहीं कर सकता। भक्त ध्रुवकी पाँच वर्षकी अवस्था थी, किंतु उसे ऐसा दृढ़ विश्वास था कि नारदजीके कथनानुसार साधन करनेपर अवश्य भगवान् मिलेंगे। और श्रद्धा-भक्तिपूर्वक साधन करनेसे दृढ़ विश्वासके बलपर भगवान्को उसे दर्शन देना पड़ा (श्रीमद्भागवत, स्क० ४ अ० ८-९)।

इसी प्रकार भक्त सुधन्वाका भी भगवान्पर दृढ़ विश्वास था। सदा-सर्वदा भगवान्का स्मरण करते रहनेके कारण उनके लिये उबलता हुआ तेल चन्दनके समान शीतल हो गया था। भक्त सुधन्वाको उबलते हुए तेलके कड़ाहेमें डाल दिया गया, किंतु वह सुधन्वाको नहीं जला सका; क्योंकि सुधन्वा तन्मय होकर भगवान्का स्मरण कर रहा था—

एवं ब्रुवति वीरेऽस्मिन् स्मरणान्माधवस्य तु।
तैलं सुशीतलं जातं सज्जनस्येव मानसम्॥

(जैमिनीय अश्वमेध० १७ । १९०)

'वीर सुधन्वाके इस प्रकार स्तुति करनेपर भगवान् माधवके स्मरणके प्रभावसे वह तैल सज्जनके चित्तके सदृश अत्यन्त शीतल हो गया।'

महर्षि शङ्ख और लिखितको शङ्का हुई कि कहीं तेल ठंडा तो नहीं है। उन्होंने परीक्षाके लिये तेलमें नारियल गिरवाया, जिसके दो टुकड़े होकर शङ्ख और लिखितके ही मस्तकपर पड़े और उनके चोट आ गयी।

भक्तिमती मीराँका भी भगवान्के प्रति कितना महान् विश्वास और प्रेम था। जब राणाजीने मीराँके पास चरणामृतके नामपर हलाहल विषका प्याला भेजा, तब मीराँने प्रसन्नतापूर्वक भगवान्के नामका उच्चारण करके पान कर लिया, किंतु वह मीराँके लिये अमृतके समान हो गया।

भक्तोंके, उच्चकोटिके महापुरुषोंके दृढ़ निश्चय—श्रद्धा-विश्वाससे असम्भव भी सम्भव हो सकता है। विष अमृत बन सकता है और अग्नि चन्दनके समान शीतल हो सकती है। यद्यपि ये सभी बातें असम्भव हैं; किंतु भक्ति

और विश्वासयुक्त दृढ़ निश्चयमें बड़ा भारी बल है, उससे असम्भव भी सम्भव हो सकता है। इसीको आत्म-बल और मानसिक बल भी कहते हैं। इसके मुकाबले-में इन्द्रियोंका और शरीरका बल कुछ भी नहीं है। इस आत्मबलसे—श्रद्धाके प्रभावसे साधन तेज हो जाता है और साधन तेज होनेसे मन-इन्द्रियाँ वशमें हो जाते हैं। ऐसा कोई भी कार्य नहीं, जो श्रद्धासे नहीं हो सकता। श्रद्धा होनेपर भगवान्‌को प्रकट होना पड़ता है। श्रद्धा-से जो सम्भव और युक्तिसंगत है वह भी असम्भव हो जाता है और असम्भव सम्भव हो जाता है।

ईश्वर, महात्मा और सत्-शास्त्रोंमें श्रद्धा-विश्वास करनेकी बात ऊपर बतलायी गयी, इसी प्रकार परलोक-में भी विश्वास करना चाहिये। आत्माके नित्यत्वका विश्वास ही परलोकविषयक विश्वास है अर्थात् आत्मा अजर-अमर है, शरीरका नाश होनेपर भी आत्माका नाश नहीं होता। यह है आत्मविश्वास। यह आत्म-विश्वास ही बतलाता है कि परलोक है। शरीरके साथ ही इस लोकसे सम्बन्ध छूटनेके बाद जिस लोककी प्राप्ति होती है, वही परलोक है। शरीरके नाशसे आत्माका नाश नहीं होता अर्थात् शरीरके मरनेसे मैं नहीं मरूँगा—इस विश्वाससे मनुष्यमें वीरता, धीरता, गम्भीरता, निर्भयता आ जाती है, फिर उसको कौन मार सकता है? गीता अध्याय २ श्लोक २० में इसी तत्त्वको समझाया गया है। भगवान् कहते हैं—

न जायते म्रियते वा कदाचि-
न्नायं भूत्वा भविता वा न भूयः।
अजो नित्यः शाश्वतोऽयं पुराणो
न हन्यते हन्यमाने शरीरे॥

'यह आत्मा किसी कालमें भी न तो जन्मता है और न मरता ही है; (शरीर ही जन्मता-मरता है) तथा न यह (शरीरकी भाँति) उत्पन्न होकर फिर होनेवाला ही है; क्योंकि यह अजन्मा, नित्य, सनातन और पुरातन है; शरीरके मारे जानेपर भी यह नहीं मारा जाता।'

इस आत्मतत्त्वके भलीभाँति समझमें आ जानेसे उसी समय मनुष्यका कल्याण हो जाता है। यह विश्वास अमरत्वकी प्राप्ति करानेवाला है। 'शरीर मैं हूँ'—यह भाव अज्ञानके कारण ही है। आत्माका ज्ञान होनेपर शरीर-की कोई परवा नहीं रहती और उसमें निर्भयता आ जाती है। आत्माके विषयमें जिसे यह दृढ़ विश्वास हो जाता है कि यह अजन्मा, नित्य, अनादि, शाश्वत, पुराण है, इसका कभी उद्भव या विनाश नहीं होता, वह अमरत्वको प्राप्त कर लेता है।

इस प्रकार जिसे परलोक और परमात्माका निश्चय हो जाता है, उसके द्वारा पाप नहीं हो सकते तथा उसमें भय नहीं रहता; बल्कि आत्मबल आ जाता है एवं उसे परमात्माकी प्राप्ति शीघ्र हो जाती है।

अब श्रद्धाकी प्राप्तिके उपाय बतलाये जाते हैं—

१. 'श्रद्धेयमें परम श्रद्धा कैसे हो?' इसकी अतिशय लालसा या उत्कट इच्छाको निरन्तर जाग्रत् रहना।

२. श्रद्धेयके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यका ज्ञान (अनुभव) होना।

३. श्रद्धेयकी आज्ञा, संकेत और सिद्धान्तका पालन करना।

४. जिन ग्रन्थोंमें भगवान्, महापुरुष, शास्त्र और परलोकके गुण, प्रभाव, तत्त्व, रहस्यका उल्लेख हो, उनका अर्थ और भावको समझते हुए अध्ययन करना।

५. आदरपूर्वक श्रद्धालु पुरुषोंका सङ्ग, वार्तालाप और अनुकरण करना।

६. अन्तःकरणकी शुद्धिके उद्देश्यसे निष्कामभाव-पूर्वक ईश्वरके नामका जप और उनके स्वरूपका ध्यान आदि उपासना; यज्ञ, दान, तप, तीर्थ, व्रत, उपवास आदि सत्कर्म; दुखी और बड़ोंकी सेवा तथा सम्पूर्ण

प्राणियोंके हितकी चेष्टा करना। इनके निष्कामभावपूर्वक अनुष्ठानसे अन्तःकरणकी शुद्धि होकर श्रद्धा प्राप्त हो जाती है; क्योंकि मनुष्यकी श्रद्धा उसके अन्तःकरणके अनुसार ही होती है (गीता १७। ३*)। उपर्युक्त किसी भी एक उपायको साङ्गोपाङ्ग किया जाय तो श्रद्धा हो सकती है। श्रद्धासे साधनकी तत्परता, मन-इन्द्रियोंका संयम और ज्ञानकी प्राप्ति होकर परमशान्तिस्वरूप परमात्माकी प्राप्ति हो जाती है। भगवान्ने गीतामें कहा है—

श्रद्धावाँल्लभते ज्ञानं तत्परः संयतेन्द्रियः।
ज्ञानं लब्ध्वा परां शान्तिमचिरेणाधिगच्छति॥
(गीता ४। ३९)

'जितेन्द्रिय, साधनपरायण और श्रद्धावान् मनुष्य ज्ञानको प्राप्त होता है तथा ज्ञानको प्राप्त होकर वह बिना विलम्ब—तत्काल ही भगवत्प्राप्तिरूप परम शान्तिको प्राप्त कर लेता है।'

इस कथनसे हमलोगोंको यह रहस्य समझना चाहिये कि श्रद्धाके अनुसार ही साधनमें तत्परता होती है और तत्परताके अनुसार ही मन-इन्द्रियाँ वशमें होती हैं तथा ऐसा होनेपर ही परमात्माका यथार्थ ज्ञान होकर परमात्माकी प्राप्ति होती है। बहुत-से अज्ञ मनुष्य अपनी साधारण श्रद्धाको भूलसे अधिक मान बैठते हैं और पूर्ण श्रद्धाके फलको न पाकर उत्साहहीन हो जाते हैं। इससे उनके साधनमें बाधा पड़ जाती है। इसलिये जितना साधन तेज हो उतनी ही श्रद्धा समझनी चाहिये और मन-इन्द्रियोंका संयम जितना हो, उतना ही साधन समझना चाहिये; क्योंकि श्रद्धाकी कसौटी साधन है और साधनकी कसौटी मन-इन्द्रियोंका संयम है।

श्रद्धा होना कठिन मानकर साधकको कभी निराश और निरुत्साह नहीं होना चाहिये; क्योंकि श्रद्धा पुरुषप्रयत्नसाध्य है, उपर्युक्त साधनोंके द्वारा मनुष्यकी श्रद्धा श्रद्धेयमें अवश्य हो सकती है। यदि ईश्वरकी दयाका आश्रय लिया जाय तो कार्यकी सिद्धि और भी शीघ्र हो जाती है। जो कुछ भी अच्छापन अपनेमें दीखता है अर्थात् जो भक्ति, ज्ञान, वैराग्य, सद्गुण-सदाचार आदि उत्तम गुण और उत्तम भाव देखनेमें आते हैं, उनमें तो ईश्वरकी और महापुरुषोंकी कृपा समझनी चाहिये तथा अपनेमें जो दुर्गुण-दुराचार, दुर्व्यसन आदि विकार देखनेमें आते हैं, उनमें अज्ञता, अश्रद्धा, संशय, आसक्ति और कामना आदि अपने स्वभावका और कुसङ्गका दोष समझना चाहिये। ईश्वर और महात्माकी कृपासे तो श्रद्धेयमें श्रद्धा होकर साधन तेज होता है। अतः यदि साधन तेज नहीं हो रहा है तो उसमें अपने स्वभावका दोष समझना चाहिये।

जो मूर्ख मनुष्य ईश्वरकी और महात्माकी दयाके तत्त्वको नहीं समझते हैं, वे आलस्यके वश होकर साधनको छोड़ बैठते हैं और कहते हैं कि 'हमारा साधन तो ईश्वर और महात्माकी कृपासे अपने-आप ही होगा।' यों समझनेवाले अविवेकी मनुष्योंका साधन तेज होना तो दूर रहा, उलटा कम हो जाता है, उन्हें निद्रा-आलस्य घेर लेते हैं एवं उनमें अकर्मण्यता बढ़ जाती है। वे अज्ञ मनुष्य फिर कहने लगते हैं कि 'हम तो ईश्वर या महात्माकी दयाके भरोसेपर, उन्हींके शरण हैं।' किंतु याद रखें, यह नियम है कि ईश्वर और महात्माकी दयाके भरोसे उनके शरण होनेपर तो साधन तेज होता है, उसके प्रयत्नमें कभी कमी नहीं आती। यह शास्त्रोंका निर्णय है। अतः यह कसौटी है कि जिस कृपाके आश्रय और शरणागतिसे साधन तेज हो, आत्माकी उन्नति हो, वह तो ईश्वर और महात्माकी कृपाका सच्चा आश्रय और सच्ची शरणागति है, एवं

* सत्त्वानुरूपा सर्वस्य श्रद्धा भवति भारत।
श्रद्धामयोऽयं पुरुषो यो यच्छ्रद्धः स एव सः॥
'हे भारत! सभी मनुष्योंकी श्रद्धा उनके अन्तःकरणके अनुरूप होती है। यह पुरुष श्रद्धामय है। इसलिये जो पुरुष जैसी श्रद्धावाला है, वह स्वयं भी वही है।'

जिससे साधन कम हो या छूट जाय तथा निद्रा, आलस्य, प्रमाद, दुर्गुण, दुराचार और विक्षेप घेर लें, वह ईश्वर और महात्माकी कृपाका आश्रय और शरणागति नहीं है, वह तो मनका धोखा है। जैसे भगवन्नामजप और गीतादि शास्त्रोंके अध्ययनमें कभी हानि होनेकी सम्भावना नहीं है, वैसे ही ईश्वर और महापुरुषोंकी कृपाका परिणाम कभी बुरा नहीं हो सकता।

अतः श्रद्धेयमें किसी प्रकारके दोषकी कल्पना करना साधनमें बड़ा भारी विघ्न है। इससे साधकका बहुत पतन होता है। इतना ही नहीं, किसीके भी दोष देखना साधनमें बड़ा भारी विघ्न है। अतः एक-दूसरेके दोषोंको देखनेकी मनुष्यमें जो प्रवृत्ति रहती है, वह सर्वथा त्याज्य है। श्रोतागण वक्ताके दोषोंको देखते हैं और वक्ता श्रोताओंके दोषोंको देखते हैं। जैसे वक्ताके कथनको सुनकर श्रोतागण वक्तापर यों दोषकी कल्पना करते हैं कि ये हमको तो उपदेश देते हैं किंतु स्वयं पालन नहीं करते। इसी प्रकार वक्ता जो उपदेश देता है, उसका पालन श्रोतागण नहीं करते तो वक्ता कहता है कि श्रोतागण सुनी हुई बातको काममें नहीं लाते—इसमें श्रोताओंकी अपनी श्रद्धाकी कमी ही हेतु है। परंतु इस प्रकार दोषदृष्टि करनेसे किसीको भी लाभ नहीं है। अतएव सबको अपना-अपना दोष देखना चाहिये। वक्तासे परम हित-कारक साधनकी बातें सुनकर उनके अनुसार साधन नहीं होता तो उसमें श्रोताको तो अपनी श्रद्धाकी कमी, संशय, विषयासक्ति और स्वभावका दोष समझना चाहिये। एवं वक्ताको श्रोताओंके हृदयमें अपनी कही हुई बात धारण न होनेमें अपनी वाणीके ओज, तेज और सत्यताकी कमी, उपदेशके अनुकूल आचरणोंकी कमी तथा अपने मन-बुद्धिके सामर्थ्यकी कमी सोचकर अपना ही दोष समझना चाहिये। इस प्रकार अपना-अपना दोष देखनेसे मनुष्यका सुधार हो सकता है और इसीमें सबका लाभ है।

अतः किसीमें भी दोषदृष्टि नहीं करनी चाहिये, सदा गुणग्राही बनना चाहिये। गुण किसीमें भी हो उसको ग्रहण करना चाहिये तथा ईश्वर, महात्मा और सत्-शास्त्रकी आज्ञाओंका श्रद्धा-भक्तिपूर्वक विशेष-रूपसे पालन करना चाहिये। इससे मनुष्यका शीघ्र कल्याण हो सकता है।

भगवान्‌के नाते सब जीवोंके प्रति प्रेम और आत्मीयतासे मेरा हृदय भर गया है

'भगवान् प्रेमस्वरूप हैं'—इस निश्चयके उदय होनेके साथ ही मेरा हृदय सृष्टिके सब जीवोंके प्रति प्रेम और आत्मीयतासे भर गया है। आज मैं अनुभव कर रहा हूँ कि जीवमात्र भगवान्‌के अंश हैं; नाम, रूप, गुण, आकृति, स्थिति, उपयोगिता—ये सब चीजें सब जीवोंकी पृथक्-पृथक् हैं; पर सबके हृदयमें जो चेतनरूपसे विद्यमान आत्मा है, वह एक है। अतएव आत्माके नाते मेरा प्रेम, मेरी आत्मीयता सबके प्रति समभावसे प्रवाहित हो रही है; पर व्यवहारमें सबके प्रति आवश्यक भेद ज्यों-का-त्यों है।

अपने शरीरके भिन्न-भिन्न अङ्गोंके प्रति आत्मीयता समान होते हुए भी व्यवहार प्रत्येक अङ्गके साथ भिन्न होता है। सब जीवोंके प्रति अब मेरे हृदयमें ऐसी आत्मीयतापूर्ण भिन्नता ही है; उनकी यथोचित सेवा करनेके लिये मैं सदा समान भावसे तत्पर हूँ।

भगवान्‌के नाते सब जीवोंके प्रति प्रेम और आत्मीयतासे मेरा हृदय भर गया है।

भजनमें सफलता क्यों नहीं मिलती ?

(लेखक—स्वामीजी श्रीकृष्णानन्दजी महाराज)

संसारमें सारे अनर्थों तथा पतनका मूल है—'विषय-चिन्तन'। विषय-चिन्तन करनेवाले मनुष्योंकी बुद्धि धीरे-धीरे नष्ट हो जाती है, जिसके फलस्वरूप उनका सत्यानाश हो जाता है। इसके विपरीत भगवच्चिन्तनके बढ़ानेका अभ्यास करनेवाले साधकोंकी दिन-दूनी और रात-चौगुनी उन्नति होती रहती है। ज्यों-ज्यों भगवच्चिन्तन बढ़ता है, त्यों-ही-त्यों उनके चित्तमें शान्तिका स्रोत बहने लगता है। आनन्दकी प्राप्ति होती है। इतना ही नहीं, वे नरसे नारायण हो जाते हैं। इसीलिये निरन्तर भगवान्‌के परम पवित्र नाम, रूप, लीला और धामका चिन्तन करते रहना बुद्धिमानोंकी बुद्धिमत्ता है। भगवच्चिन्तन मानव-जीवनकी अपूर्व सम्पत्ति है। कृपणके धनके समान इस सम्पत्तिकी सँभाल रखनी चाहिये।

जो लोग व्यर्थ ही संसारका चिन्तन करते हैं, वे पापकर्मोंसे कभी बच नहीं सकते। चिन्ता उनका साथ कभी छोड़ती नहीं। वाद-विवाद बढ़ जाता है। अशान्ति बनी ही रहती है। राग-द्वेष आदि लुटेरे उनके हृदय-भवनके मालिक बन जाते हैं। संसारका चिन्तन सदा व्यर्थ जाता है। सार्थक तो वह होता ही नहीं। अमूल्य मानवताको व्यर्थ नष्ट करनेका सुगम उपाय है—'संसारका चिन्तन'।

बहुत-से साधक शिकायत किया करते हैं—'स्वामीजी, भजन तो वर्षोंसे करते आ रहे हैं पर लाभ तो कुछ भी नहीं होता। क्या कारण है ?' इसका सीधा उत्तर तो यह है कि भजनके बदले जो लाभ देखता रहता है वह तो बनिया ही है, जो इस हाथसे लेता है दूसरे हाथसे देता है। भाई ! भजनका फल तो भजन ही है। भगवान्‌के प्रति निरन्तर प्रेम बढ़ता रहे और भजन भी निरन्तर होता रहे, यही तो लाभकी अवधि है। यदि आप कहें कि 'यह भी तो नहीं होता' तो इससे सिद्ध होता है कि आपसे भजन बन ही नहीं रहा है। भजनके बदले भोगोंका चिन्तन होता होगा। भला, भगवान्‌का भजन थोड़ा बहुत बनता रहे और लाभ न हो, यह सरासर झूठी बात है। मनुष्य ज्यों-ज्यों भजन-साधन करता जाता है, त्यों-ही-त्यों सुख-शान्तिका अनुभव, संसारसे विरक्ति और भगवान्‌के प्रति प्रेम बढ़ता जाता है।

जो संसारका चिन्तन करता है, वह भगवान्‌से वैसे ही दूर हटता जाता है, जैसे पूर्वकी ओर जानेकी इच्छा रखनेवाला पश्चिमकी ओर चल दे तो वह अपने निर्दिष्ट स्थानसे दूर होता जाता है। अतः साधकोंको सावधान रहना चाहिये कि संसारका चिन्तन धोखेमें भी न होने पाये। स्मरण रखिये—मनुष्य जैसा चिन्तन करने लगता है, वैसा ही वह बन जाता है। जो विषयोंका चिन्तन करता है, वह 'विषयरूप' और जो भगवच्चिन्तन करता है वह 'भगवद्रूप'।

भगवद्भक्तोंका ही सङ्ग कीजिये। भक्ति-ग्रन्थोंका अवलोकन करते रहिये। भगवच्चर्चा कीजिये और सुनिये। विषयी पुरुषोंका सङ्ग तो भूलकर भी नहीं करना चाहिये। विषयका सङ्ग भी दुःखदायी तो है ही, पर उतना नहीं है जितना विषयीका सङ्ग है। अतः दोनोंके ही सङ्गका त्याग कर देना कल्याणकारक है।

पुराणोंमें, अनेक उदाहरण मिलते हैं, जिनमें श्रेष्ठ साधकोंका भी पतन होता पाया जाता है। महर्षि विश्वामित्रका नाम तो प्रसिद्ध ही है। सौभरि ऋषिकी कथा भागवतके छठे स्कन्धमें है। सौभरि ऋषि जलमें रहकर कठिन तप कर रहे थे। अनेक सिद्धियाँ भी

उन्हें प्राप्त हो गयी थीं । पर विषय-दर्शनसे वे भी तपस्यासे च्युत हो गये ।

वर्तमान कालमें भी कितने अच्छे-अच्छे साधक साधनासे च्युत हो गये हैं । इसका प्रधान कारण है 'असावधानी' । कुछ दिनोंतक साधना ठीक-ठीक चलती रही । जिन लोगोंने दर्शन किये उनकी श्रद्धा बढ़ने लगी । फिर क्या था, दर्शकोंकी भीड़ आने लगी । धीरे-धीरे चेला और चेलियोंकी संख्या भी बढ़ गयी । मनने धोखा देना शुरू कर दिया । सोचने लगे कि 'संसार बहुत बिगड़ रहा है । इसका सुधार करना चाहिये ।' बस, 'साधक' से बन गये 'सुधारक' । रुपये, धन-सम्पत्ति, मोटर-गाड़ियाँ, सेवक-सेविकाएँ और सुन्दर-सुन्दर भोग-पदार्थोंकी अब कमी ही नहीं है । एक मन कहता है—'सावधान । कहाँ जा रहे हो गिरने !' इतनेमें वही मन बदल जाता है—कहता है 'चलो भाई—त्याग तो भीतरसे होना चाहिये । बाहर मनसे भोगनेमें क्या दोष है । भोग-पदार्थ तो भोगनेके लिये ही भगवान्ने बना रखे हैं । हम नहीं भोगेंगे तो ये सब तो व्यर्थ ही बनाये गये । फिर भी, हम तो किसीसे माँगते नहीं—यह तो हमारी तपस्याका ही फल स्वयं मिल रहा है । पहले तो कोई पूछता नहीं था पर अब तो हमारे भजनका प्रताप प्रकट हो गया है, तभी तो बड़े-बड़े जज-मैजिस्ट्रेट, वकील-मुख्तार, डाक्टर-प्रोफेसर और सेठ-साहूकार हमारी सेवामें खड़े हैं ।' यह है साधकके पतनका मार्ग ।

साधको ! आप सदा सावधान रहें । मनके धोखेमें कभी न आ जायँ । निरन्तर अपने लक्ष्यकी ओर दृष्टि जमाकर रखे रहिये, जहाँ खतरा दिखायी पड़े, वहाँसे तुरंत नौ दो ग्यारह हो जाइये । थोड़ी-सी भी असावधानी भारी पतनका कारण हो जा सकती है । भजनमें सफलता न मिलनेका कारण है—(१) श्रद्धा-विश्वासकी कमी, (२) भजनमें निरुत्साह, (३) विषय-चिन्तन, (४) कुसङ्ग, (५) सत्संगका अभाव और (६) दृढ़ निश्चयकी कमी ।

भजनमें शीघ्र लाभ हो, इसके लिये तीन खास बातें चाहिये—(१) विषयोंसे तीव्र वैराग्य, (२) निरन्तर भगवच्चिन्तन और (३) सत्पुरुषोंका सङ्ग । साधकको चाहिये कि वह अपने निश्चयको पर्वतकी तरह दृढ़ रक्खे । मनसे भगवान्के नाम, रूप, लीला और धामका स्मरण करता रहे । जीभसे भगवन्नामका जप करता रहे, कानोंसे सत्कथा सुनता रहे और सद्गुरुके सांनिध्यमें रहे ।

भगवान्की परम अहैतुकी कृपा तो सबपर है ही ।

कठिनाइयोंका सामना करो

मानव-जीवनमें कटुता-कठिनाई विविध भाँति आती ।
कभी-कभी वे अति भीषण बन तन-मनपर है छा जाती ॥
जो निराश हो रोने लगता, उसपर वे बढ़ती भारी ।
विविध प्रकारोंसे बहुसंख्यक बन अति दुख देती सारी ॥
हो भयभीत छोड़कर साहस जो कापुरुष भाग जाता ।
भाग न पाता, गिर पड़ता वह, बुरी तरह कुचला जाता ॥
पर जो कर विश्वास ईश्वरी बलपर सन्मुख डट जाता ।
उससे डर वे भाग छूटतीं, नहीं दुखी वह हो पाता ॥

ईश्वरकी प्रार्थना

(लेखक—डा० श्रीमङ्गलदेवजी शास्त्री, एम्० ए०, डी० फिल्०)

ईश्वरकी प्रार्थनाके विषयमें नीचे दो पद्य दिये जाते हैं—

दत्तं देवेन यत् तुभ्यं तदर्थं स्वकृतज्ञताम् ।
ब्रूहि तं परमात्मानं मा भूत् तेऽत्र कृतघ्नता ॥
यदवाप्तं त्वया देवात् तदर्थं योग्यतात्मनः ।
दर्शनीया प्रयत्नेन प्रार्थनीयं ततोऽधिकम् ॥

(रश्मिमाला ५२ । १-२)

अनुवाद

परमात्माने जो कुछ तुमको दिया है, तुमको चाहिये कि उसके लिये परमात्मासे अपनी कृतज्ञता प्रकट करो। इस विषयमें तुम्हें कृतघ्न न होना चाहिये ॥ १ ॥

तुमने जो कुछ परमात्मासे पाया है, उसके लिये प्रयत्नपूर्वक पहले अपनी योग्यता दिखलाओ । उसके अनन्तर ही उससे अधिकके लिये प्रार्थना करनी चाहिये ॥ २ ॥

व्याख्या

नाना मनोरथों और अपनी राग-द्वेषपूर्ण प्रवृत्तियोंके प्रवाहमें बहता हुआ मनुष्य, उनके घात-प्रतिघातसे व्याकुल होकर, आदर्शहीन जीवन व्यतीत करता हुआ, प्रायः अपनेको असहाय तथा दीन-हीन अनुभव करता है और उस अवस्थामें उसी प्रवाहके वेगको बढ़ानेवाली वस्तुओंकी या अवस्थाकी प्राप्तिके लिये ईश्वरसे या अपने इष्टदेवसे प्रार्थना करता है ।

उस प्रार्थनामें न तो सत्-असत्, उचित-अनुचित या अपनी वास्तविक आवश्यकताओंका विवेक होता है, न जीवनके किसी ऊँचे आदर्शकी भावनाका स्थान होता है ।

विभिन्न धर्मोंके कर्मकाण्डमें प्रायः ऐसी ही प्रार्थनाओं-का बाहुल्य है; यहाँतक कि मनुष्य अपने इष्टदेवसे अपने मनोरथोंको पूर्ण कर देनेका सौदा भी करता है, मानो इष्टदेवको भी हमारी ही तरह अनेक वस्तुओंकी आवश्यकता है ।

उपर्युक्त प्रकारकी प्रार्थना जीवनको उठानेवाली न होकर हममें दीनता-हीनताके भावोंको ही बढ़ाती है ।

इसमें संदेह नहीं कि ईश्वर-प्रार्थनामें बड़ी भारी शक्ति है; पर यह तभी होता है जब प्रार्थना बुद्धिपूर्वक कर्तव्याकर्तव्यकी आदर्श-भावनाके साथ की जाती है ।

जीवनका वास्तविक लक्ष्य हमारी प्रतिदिनकी आवश्यकताओंकी प्राप्ति या स्वाभाविक वासनाओंकी तृप्तिमें नहीं है; वह तो हमारी आध्यात्मिक, नैतिक तथा सामाजिक उदात्त भावनाओंकी पुष्टि और उत्तरोत्तर विकासमें है । प्रतिदिनकी आवश्यकताओंकी प्राप्तिका महत्त्व वहींतक है, जहाँतक वे उक्त उत्तरोत्तर विकास-में सहायक हों ।

इस दृष्टिसे ईश्वरने जो कुछ अपनी कृपाका प्रसाद हम सबको दिया है, वह अमूल्य है । जरा ध्यान देकर सोचिये कि प्रभुने हम सबको क्या-क्या अमूल्य निधियाँ दी हैं । सबसे पहले मनुष्यका जीवन, जिसको हम समस्त ब्रह्माण्डके साथ तोल सकते हैं । इस जीवनमें भी एक-एक वस्तु अद्भुत है । सदसद्का विवेक करनेवाली बुद्धि, सृष्टिके समस्त वैभव और सौन्दर्यको अनुभव करनेवाली चक्षुष् आदि इन्द्रियाँ तथा उनकी विभिन्न शक्तियाँ । क्या इनमेंसे किसी एकको भी मनुष्य कोटि-कोटि धन लेकर बेचनेको तैयार होगा ?

इसलिये प्रथम इसके कि मनुष्य ईश्वरसे प्रार्थना करे, उसे उसका गुणगान करना चाहिये, हृदयसे धन्यवाद देना चाहिये कि उसने हमको हमारी ही दृष्टिसे समस्त विश्वसे भी अधिक मूल्यवान् वस्तुएँ और शक्तियाँ प्रदान की हैं ।

साथ ही हमको अपने आचरणसे यह सिद्ध करना चाहिये कि ईश्वरने जो कुछ हमको दिया है हम उसके योग्य भी हैं। यह तभी हो सकता है जब कि हम अपनी शक्तियोंका सदुपयोग करेंगे और उनके द्वारा जीवनके वास्तविक लक्ष्यकी प्राप्तिका सच्चे भावसे यत्न करेंगे।

यह सब कर लेनेके बाद ही हमको ईश्वरसे अधिककी प्रार्थना करनी चाहिये। वह प्रार्थना यही होगी कि हम अपने जीवनके परम लक्ष्यकी प्राप्तिमें आनेवाली समस्त बाधाओंपर विजय प्राप्त करते हुए उत्तरोत्तर वास्तविक उन्नति करनेमें समर्थ हों। यही जीवनका रहस्य है, यही ईश्वरकी सच्ची प्रार्थना और भक्ति है।

ओम् शम्

अहङ्कार

(लेखक—श्रीगोपालचन्द्रजी चक्रवर्ती, वेदान्तशास्त्री)

जीवात्मा और परमात्मा—ये दो शब्द प्रचलित हैं। परमात्मा सर्वव्यापक, शुद्ध चेतन, सच्चिदानन्दस्वरूप, अविकारी, नित्यसत्ता हैं। इसमें किसीका मतभेद नहीं है। सृष्टिके पहले वह जैसे थे, अभी भी वैसे ही हैं और प्रलयके अनन्तर भी वैसे ही रहेंगे। अविकारी होनेके कारण ही वे नित्य हैं।

परंतु जीवात्मा क्या है? इसी विषयमें मतभेद है। कोई कहता है—स्फुलिङ्ग (चिनगारी) है; परंतु स्फुलिङ्ग तो अग्निसे पृथक् स्थानमें दृष्ट होता है और परमात्मा सर्वत्र पूर्ण हैं। उनसे पृथक् स्थान कहाँ है कि जीवात्मा-रूप अगणित स्फुलिङ्ग पृथक् दिखायी देंगे? गीताके सप्तम अध्यायके पञ्चम श्लोकमें 'जीव' शब्दका उल्लेख है सही, किंतु स्वरूप वर्णित नहीं हुआ है। वेदान्त-दर्शनमें वेदव्यासजीने जीवके स्वरूपके सम्बन्धमें (सूत्र २।३।५०) लिखा है—**'आभास एव च'** यानी जीव परमात्माका आभास या प्रतिबिम्ब है। दर्पणमें जिस प्रकार मुखका आभास पड़ता है उसी प्रकार चित्तरूप दर्पणमें चेतन परमात्माका आभास प्रतीयमान होता है। जिस प्रकार चित्रपटपर मनुष्यका चित्र खींचकर उसका वस्त्र भी अङ्कित कर देते हैं और अङ्कित वस्त्रोंको लोग यथार्थ वस्त्र न कहकर वस्त्राभास कहते हैं—**'वस्त्रवत् आभासते (प्रतीयते) इति वस्त्राभासः'**—वस्त्रकी तरह प्रतीत होता है, यथार्थ वस्त्र नहीं है, इसीलिये वह वस्त्राभास है, ठीक उसी प्रकार दर्पणस्थ मुख मुखकी तरह प्रतीत होनेपर भी, मुख नहीं है—मुखाभास है।

दर्पण, जल, स्फटिक आदि स्वच्छ वस्तुओंमें ही प्रतिबिम्ब पड़ता है। चित्त या अन्तःकरण सूक्ष्म पञ्चभूतोंके समष्टि सात्त्विक अंशसे उत्पन्न है। सत्त्वगुण प्रकाशशील होनेके कारण स्वच्छ है। इसलिये वह आधारभूत चेतन-सत्ताका प्रतिबिम्ब ग्रहण करता है और चेतनकी तरह प्रतीत होता है। वेदान्त कहता है—

कूटस्थे कल्पिता बुद्धिस्तत्र चित् प्रतिबिम्बकः।
प्राणानां धारणाज्जीवः संसारेण स युज्यते॥

परमात्माका देहावच्छिन्न अंश कूटस्थ माना जाता है। यथार्थमें पूर्ण पुरुषका अंश नहीं होता। कूटका अर्थ है निहाई, लोहारका लौहपीठ—शतसहस्र अस्त्र-शस्त्र तैयार होनेपर भी जो अविकृत रहता है। अनन्तकोटि ब्रह्माण्ड उत्पन्न या कल्पित होते रहनेपर भी जो अविकृत रहते हैं, वे ही कूट हैं और अगणित चित्तवृत्तियोंके उत्पन्न होनेपर भी जो अविकृत रहते हैं, वे ही कूटस्थ हैं, प्रत्येक जीवके भीतर ही यह कूटस्थ आत्मा विराजमान है। उन्हींके ऊपर चित्त कल्पित है। उसी चित्तमें चेतन कूटस्थ आत्माका प्रतिबिम्ब है। उस प्रतिबिम्बको ही वेदान्तमें जीव कहा गया है। जिस प्रकार दर्पणस्थ मुखाभासके अस्तित्वके लिये दर्पण और असली मुखका रहना आवश्यक है, बिना उन दोनोंके मुखाभास अकेला रह नहीं सकता, उसी प्रकार चित्तमें प्रतिबिम्बित आभास-चैतन्यके अस्तित्वके लिये चित्त और कूटस्थका रहना आवश्यक है, बिना उन दोनोंके चिदाभास अकेला रह नहीं सकता। इस कारण कूटस्थ, चित्त और चित्प्रतिबिम्ब—इन तीनोंका संघ या समूह ही जीव नामसे कथित है।

अतः जाना गया कि जीवकी चेतनता अपनी नहीं है; तपे हुए लोहेकी दाहिकाशक्तिकी भाँति उधार ली हुई चेतनता है। यदि दर्पणस्थ मुख कहता है—देखो, मेरा कैसा सुन्दर

रूप है, कैसा प्रशस्त ललाट है, कैसी नुकीली नाक है, तो वह उसका मिथ्या अहङ्कार है; उसे कहना चाहिये—तुमलोग मेरे भीतर जो सौन्दर्य देख रहे हो, वह मेरा अपना नहीं है, उधार लिया हुआ सौन्दर्य है; यदि यथार्थ सौन्दर्य देखना चाहते हो तो दर्पणके बाहर असली मुखकी ओर देखो तो वही सत्य कथन होगा। इसी प्रकार यदि जीव कहता है—देखो, मेरा कैसा रूप है, कितना ऐश्वर्य है, कितनी शक्ति है, कितना ज्ञान है तो वह उसका मिथ्या अहङ्कार होगा। उसे कहना चाहिये—तुमलोग मेरे भीतर जो रूप, ऐश्वर्य, शक्ति और ज्ञान देख रहे हो, वे मेरे अपने नहीं हैं, वे उधार लिये हुए रूप-ऐश्वर्य-शक्ति-ज्ञान हैं। यदि यथार्थ रूप-ऐश्वर्य-शक्ति-ज्ञान देखना चाहो तो मेरे चित्तदर्पणके दूसरी ओर मूल चेतन कूटस्थकी ओर ताको।

इस प्रकारके विचारसे जीवका स्वरूप समझ सकनेपर हमारे लिये अहङ्कार करनेका कोई कारण ही नहीं रह सकता।

अहङ्कार दूर करनेका और भी एक प्रकारका विचार है। हमारी यह विशाल पृथ्वी अनन्तकोटि ब्रह्माण्डोंकी तुलनामें एक बालू-कणके सहस्रांशसे भी क्षुद्र है, इस पृथ्वीमें मनुष्य तो अणुके समान है। उस मनुष्यका फिर चित्त! उस मनुष्य-का फिर अहङ्कार !!

अहङ्कार ही तो सारे अनर्थोंका मूल है। अहङ्कारमें आघात लगनेपर ही क्रोध, द्वेष, हिंसा, हत्या और युद्ध अनिवार्य हो जाता है। परिणाम है—नाश, ध्वंस, दुःख। भगवान् अहङ्कारका भक्षण करते हैं। अहङ्कार किया था—रावण, कंस, शिशुपाल, दुर्योधन, नेपोलियन और हिटलरने, हमारे चारो ओर भी अनेक अहङ्कारियोंका पतन देखा गया है। अहङ्कार-का पतन अनिवार्य है—यह सब देशोंके अनुभवी व्यक्तियोंकी वाणी है।

मनुष्यके निन्यानबे प्रतिशत दुःख ही तो अहङ्कारमें आघात लगनेके फलस्वरूप उत्पन्न होते हैं। मनुष्य दूसरोंके बुरे बर्तावों और चुभती हुई बातोंसे जर्जरित हैं। शारीरिक आघात और रोगका दुःख कितना है? प्रिय-वियोगमें भी अहमिकामें आघात लगनेके कारण ही लोग छटपटाते हैं। अपने ही अभावके लिये लोग रोते हैं, जो गया उसे क्या हुआ—उसपर कोई ध्यान नहीं देता।

अहङ्कारका भाव न रहे तो मनुष्यके निन्यानबे प्रतिशत दुःख पास ही नहीं आ सकते, उस स्थितिमें संसार तो स्वर्गके समान सुखमय हो जाता है।

यदि अहङ्कार करना ही हो तो दर्पण-प्रतिबिम्बित मुख जिस प्रकार अपना मिथ्या स्वरूप जानकर दर्पणके बाहरके असली मुखको ही अपना स्वरूप समझता है, ठीक उसी प्रकार जीवको मनोदर्पणमें प्रतिबिम्बित जीवत्वका मिथ्यास्वरूप जानकर मनके अन्तरतम प्रदेशमें बिम्बभूत मूल चैतन्यको ही अपना यथार्थ स्वरूप समझना चाहिये। इस मूल चैतन्यको कोई भी सांसारिक वस्तु सीमाबद्ध नहीं कर सकती। वह सर्वव्यापक, अविनाशी और अविकारी है। मनुष्य अपना क्षुद्र व्यक्तित्व भूलकर यदि इस अनादि अनन्त सच्चिदानन्द आत्माको अपना रूप समझ सके तो फिर उसे मृत्युभय नहीं रहता; क्योंकि क्षुद्र ही मरता है। भूमा (व्यापक या असीम) नहीं मरता। हम चारो ओर केवल क्षुद्र ही देखते हैं और देखते हैं उन क्षुद्रोंका प्रतिक्षण ध्वंस—

'यदल्पं तन्मर्त्यम्, यद् वै भूमा तदमृतम्।'

—अल्प ही मरता है, भूमा अमर है। फलस्वरूप सदा ही शङ्का, सदा ही भय लगा रहता है। यदि असीमको हम अपना रूप बना सकें तो भय क्यों होगा?

यदि बुलबुला यह समझे कि मैं छोटा बुलबुला हूँ तो उसे प्रतिक्षण ही नाश, ध्वंस या मृत्युका भय रहता है और यदि वह यह समझे कि बुलबुला तो मेरा मिथ्या रूप है, वायुने फुलाकर मुझे छोटा बना दिया है, मैं तो जल हूँ, मैं तो समुद्र हूँ, मैं तो अनन्त हूँ तो उसे भय किस बातका? इसी प्रकार मनुष्यको भी अहङ्कार वायुने फुलाकर छोटा बना दिया है। वह यदि अपना यह मिथ्या क्षुद्र स्फीत-भाव छोड़कर अपनेको अनन्तमें मिला देता है तो वह इस जीवनमें ही सारे बन्धनों और सारे शोक-दुःखोंसे सर्वथा मुक्त हो सकता है।

प्राणीका अहङ्कार

(लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा)

श्रीमद्भागवतमें ब्रह्माजी कहते हैं कि पुण्यात्मा तपस्वी-गण बड़े रोषसे कामका संहार कर डालते हैं; किंतु वे आत्मदाहक रोषको नहीं जला पाते। यहाँतक कि भगवान् शङ्करने भी जब कामको जलाया, तब उनके मनमें कोपका उदय हो ही गया—

'सौरभ पल्लव मदन बिलोका। भयउ कोप कंपेउ त्रैलोका॥

तपःपरामर्शविवृद्धमन्योर्भ्रूभङ्गदुष्प्रेक्ष्यमुखस्य तस्य।
स्फुरन्नुदर्चिः सहसा तृतीयादक्ष्णः कृशानुः किल निष्पपात॥
क्रोधं प्रभो संहर संहरेति यावद्गिरः खे मरुतां चरन्ति।
तावत्स वह्निर्भवनेत्रजन्मा भस्मावशेषं मदनं चकार॥

(कुमारसम्भव ३।७०-७२)

किंतु भगवान् नारायणके पास जब कामकी सेना गयी, तब उन्होंने न तो तनिक रोष किया और न कोई उनके मनमें उधर आकर्षण ही हुआ। उन्होंने अपनी जंघासे उर्वशी आदि सहस्रों अप्सराएँ उत्पन्न कर दीं, अनङ्ग तथा उसके सहायकोंको सान्त्वना देकर तथा उर्वशीको भी साथमें देकर विदा कर दिया। जब उनके हृदयमें रोष ही प्रवेश करते हुए इतना डरता है, तब काम तो फिर उनके हृदयमें उत्पन्न ही कैसे हो सकता है।

कामं दहन्ति कृतिनो ननु रोषदृष्ट्या
रोषं दहन्तमुत ते न दहन्त्यसह्यम्।
सोऽयं यदन्तरमलं निविशन् बिभेति
कामः कथं नु पुनरस्य मनः श्रयेत॥

(श्रीमद्भा० २।७।७)

किंतु काम तथा क्रोधको जीत लेनेके बाद भी यदि अहङ्कार उत्पन्न हो गया तो भी भारी गड़बड़ी है। नारदजीने एक बार हिमालयके समीप गङ्गातटवर्ती एक पवित्र गुफामें स्वाभाविक निर्मल हृदयसे समाधि लगायी। भयभीत होकर इन्द्रने उनके पास अप्सराओंकी सेना वसन्त तथा कामादिको भेजा; पर नारदजी न तो रोषाविष्ट हुए और न उनकी कामकलाका ही इनपर कोई प्रभाव पड़ा। समझा-बुझाकर उन्होंने भी कामादिको बिदा कर दिया—

भयउ न नारद मन कछु रोषा। कहि प्रिय बचन काम परितोषा॥
नाइ चरन सिर आयसु पाई। गयउ मदन तब सहित सहाई॥

किंतु नारदजीको यह विस्मय हो गया कि मैं तो शङ्कर-जीसे भी एक कदम आगे बढ़ गया और सीधे शङ्करजीके ही पास पहुँचकर वे यह सब समाचार सुनाने लगे—

तब नारद गवने सिव पाहीं। जिता काम अहमिति मन माहीं॥
मार चरित संकरहि सुनाए। ....॥

भगवान् शंकर सब समझ गये। वे भगवान्‌की महिमा जानते थे। उन्होंने बड़े प्रेमसे नारदजीको सब कुछ समझाया और कहा कि 'इस प्रसङ्गको कृपया भगवान् नारायणके पास आप कभी न कहें, यदि वे कभी प्रसङ्ग चलावें तो भी आप इसे प्रकट न करें' किंतु नारदजीको यह सब अच्छा न लगा और उसे भगवान् विष्णुसे कह ही डाला। परिणामतः मायाका पुनः लंबा कुचक्र चल पड़ा और वे विवाहके लिये विकल देखे गये। भरी सभामें उन्हें भारी उपहासका पात्र बनना पड़ा। ऐसी दशामें कामका न होना, क्रोधका भी न होना और अहङ्कारका भी उदय न होना तो एकमात्र भगवत्कृपासे ही सम्भव है। मार्कण्डेयजी इसके उदाहरण हैं—

इतीन्द्रानुचरैर्ब्रह्मन् धर्षितोऽपि महामुनिः।
यन्नागादहमो भावं न तच्चित्रं महत्सु हि॥

(श्रीमद्भा० १२।८।३०)

इन्द्रके अनुचर—काम, वसन्त, अप्सराएँ, मार्कण्डेयजी-को तपसे भ्रष्ट करने आये; किंतु उनके द्वारा धर्षित होनेपर भी वे विचलित नहीं हुए। इतना ही नहीं, उनके मनमें इसका तनिक-सा अहङ्कार भी उदय नहीं हुआ।

वास्तवमें प्राणीको विजय, सफलता, विद्या, वैभव, सुख-सम्पत्ति आदि सब भगवत्कृपासे ही मिलते हैं, पर जब वह ऐसा न मानकर उन्हें अपनी क्रियाशक्तिका परिणाम मान लेता है, तब गर्वमें आकर ईश्वर तथा महापुरुषोंका अपमान करने लगता है। वह उनकी महत्ताको भूल जाता है—अज्ञानमदसे उन्हें देखते हुए भी नहीं देख पाता—

विद्यातपोवित्तवपुर्वयःकुलैः
सतां गुणैः षड्भिरसत्तमेतरैः।
स्मृतौ हतायां भृतमानदुर्दृशः
स्तब्धा न पश्यन्ति हि धाम भूयसाम्॥

(श्रीमद्भा० ४।३।१७)

केनोपनिषद्के यक्षोपाख्यानमें इस बातको विस्तारसे समझाया गया है। मनुष्यकी तो बात ही क्या ? देवता भी, जिन्हें ब्रह्मकी कृपासे असुरोंपर विजय मिली थी, गर्वातिरेकसे अपने उपकर्ता परमात्माको भूल गये। जैसे कठपुतली या काष्ठका मृग पराधीन है, वैसे ही समस्त चराचरभूतसंजात प्राणीमात्र भगवदाधीन हैं। लोकपालोंके साथ-साथ समस्त लोक सूत्रबद्ध पक्षीकी भाँति जिसके अधीन हैं, वह कालात्मक परमात्मा ही जय-पराजय तथा अभ्युदय तथा पराभवका कारण है। ओज, सह, बल, प्राण, अमृत और मृत्यु—इन सबके हेतु भगवान् ही हैं। किंतु मदमत्त प्राणी उन्हें न जानकर अपनेको ही उसका हेतु मान लेता है—

ओजः सहो बलं प्राणममृतं मृत्युमेव च।
तमज्ञाय जनो हेतुमात्मानं मन्यते जडम्॥

प्रह्लादके मतसे समस्त क्रिया-शक्तियोंका मूल तथा बलवानोंका बल परमात्मा है। जब हिरण्यकशिपुने उनसे पूछा कि 'तुममें कौन-सी शक्ति है, जिससे तुम इन समस्त अस्त्र-शस्त्र-विष, अग्नि आदिके प्रभावोंको नष्ट कर देते हो?' तो उन्होंने उत्तर दिया कि 'मेरा ही नहीं, सभी बलवानोंका बल, शक्तिमानोंकी शक्ति भी वही परमात्मा ही है—

न केवलं मे भवतश्च राजन् स वै बलं बलिनां चापरेषाम्।
(श्रीमद्भा० ७।८।८)

श्रीहनुमान्‌जी भी रावणको समझाते हुए यही कहते हैं—

जाकें बल बिरंचि हरि ईसा। पालत सृजत हरत दससीसा॥
जा बल सीस धरत सहसानन। अंडकोस समेत गिरि कानन॥
जाके बल लवलेस तें जितेहु चराचर झारि।
तासु दूत मैं जा करि हरि आनेहु प्रिय नारि॥

वास्तवमें भगवान्‌का सहारा छोड़कर जो आगे बढ़ना चाहता है, वह कुत्तेकी पूँछ पकड़कर सागरके पार जाना चाहता है—

अविस्मितं तं परिपूर्णकामं
स्वेनैव लाभेन परं प्रशान्तम्।
विनोपसर्पत्यपरं हि बालिशः
श्वलाङ्गुलेनैव तितर्ति सिन्धुम्॥

ते जड़ महासिंधु बिनु तरनी। पैरि पारि चाहत निज करनी॥

श्रीमद्देवीभागवतके अनुसार तो अहङ्कारके उदय होते न होते ही समस्त पुण्य उसी प्रकार बिदा हो जाते हैं, जैसे सूर्यके उदय होते-न-होते अन्धकार—

यथा सूर्योदये जाते तमः किंचिन्न तिष्ठति।
अहंकाराङ्कुरस्याग्रे तथा पुण्यं न तिष्ठति॥
वर्षकोटिसहस्रं तु तपः कृत्वातिदारुणम्।
अहङ्काराङ्कुरे जाते व्यर्थं भवति सर्वथा॥
(४।७।२५-२६)

विवेकचूडामणिमें शंकराचार्य कहते हैं कि जबतक इस दुरात्मा अहंकारसे इस आत्माका सम्बन्ध है, तबतक मुक्ति-जैसी विलक्षण वस्तुकी लेशमात्र भी आशा नहीं रखनी चाहिये—

यावत्स्यात्स्य सम्बन्धोऽहङ्कारेण दुरात्मना।
तावन्न लेशमात्रापि मुक्तिवार्ता विलक्षणा॥
(विवेकचूडामणि ३००)

गोस्वामी श्रीतुलसीदासजीके शब्दोंमें अहंकार—

संसृतिमूल सूलप्रद नाना। सकल सोक दायक अभिमाना॥

—है। अतः कृपानिधान प्रभु जिसपर कृपा करते हैं, उसके अहङ्कारको तुरंत उखाड़ फेंकते हैं—

तातें करहिं कृपानिधि दूरी। सेवक पर ममता अति भूरी॥

इसलिये उन्होंने यक्षका वेष बनाकर उन देवताओंको शिक्षा दी। उस समय अग्नि, वायु आदि देवतागण एक तुच्छ तृणको भी उड़ाने या जलानेमें समर्थ न हो सके। वे तुरंत समझ गये कि हमलोगोंका सारा गर्व व्यर्थ है। कल्याण वर्ष २२ के तीसरे अङ्कमें 'अखिल गर्वहारी भगवान्' तथा सत्कथा-अङ्कके 'गर्वापहार' शीर्षक-कथाओंमें प्रायः पचीसों भक्तोंके गर्वापहरणकी ऐसी बड़ी ही सुन्दर कथाएँ हैं। योगवासिष्ठके अनुसार जैसे सारे खदिर वृक्ष पर्वतपर ही उगते हैं, वैसे समस्त दीर्घ, विषम एवं महान् क्लेश अहङ्कारसे ही प्रकट होते हैं—

यानि दुःखानि दीर्घाणि विषमाणि महान्ति च।
अहंकारात्प्रसूतानि तान्यगात्खदिरा इव॥
(वैराग्यप्रकरण १५।६)

—पर इससे बचना बहुत कठिन है। यह कब प्रविष्ट हुआ, मुझमें है या नहीं, प्रायः इसका भान ही नहीं होता। निरन्तर भगवान्‌को स्मरण रखने तथा समस्त प्राणियोंमें भगवद्भाव मानकर उन्हें सदा नमन करते रहनेसे मनुष्य अहङ्कारसे बचा रह सकता है।

मधुर

(१)

एक सर्वात्मसमर्पण कर चुकनेवाला साधक गोपीरूपसे अपने एकमात्र अनन्य प्रियतम भगवान् श्यामसुन्दरसे कहता है—प्रियतम ! मैंने अपने तन-मन-प्राण तुम्हें समर्पण कर दिये हैं। मेरे ममता और अभिमान तुम्हारे समर्पण हो चुके हैं। अब तुम मुझको सर्वथा अपनी वस्तु जानकर जब जैसे मन चाहे, बरतो। अपने मनके अनुसार करते तनिक भी संकोच न करो, दूसरी कोई बात सोचो ही मत। तुमको सब पूरा पता है कि अब मेरा कुछ रह ही नहीं गया है—

सौंप दिये मन प्राण तुम्हींको
सौंप दिये ममता अभिमान।
जब, जैसे, मन चाहे, बरतो,
अपनी वस्तु सर्वथा जान॥
मत सकुचाओ मनकी करते,
सोचो नहीं दूसरी बात।
मेरा कुछ भी रहा न अब तो,
तुमको सब कुछ पूरा ज्ञात॥

मान-अपमान, दुःख-सुखसे मेरा अब कुछ भी सम्बन्ध नहीं रह गया। मेरे लिये तो बस, तुम्हीं एक कैवल्य मोक्ष हो और केवल तुम्हीं एक बन्धन हो। मैं कहीं, कैसे भी रहूँ, सदा-सर्वदा तुम्हारे ही अंदर बसी रहती हूँ। अब मेरे सभी दूसरे आश्रय छूट गये हैं, मेरे सभी अनित्य सम्बन्ध मिट गये हैं। एक तुम्हारे चरणकमलोंमें ही मेरा समस्त संसार विसर्जित हो गया है। बस, तुम्हीं एक मेरे स्वामी रहे हो, अतः सदा स्वच्छन्द विहार करो।

मान-अमान, दुःख-सुखसे अब
मेरा रहा न कुछ सम्बन्ध।
तुम्हीं एक कैवल्य मोक्ष हो,
तुम ही केवल मेरे बन्ध॥
रहूँ कहीं, कैसे भी, रहती
बसी तुम्हारे अंदर नित्य।
छूटे सभी अन्य आश्रय अब
मिटे सभी सम्बन्ध अनित्य॥
एक तुम्हारे चरणकमलमें
हुआ विसर्जित सब संसार।
रहे एक स्वामी बस, तुम ही,
करो सदा स्वच्छन्द विहार॥

कैसा अनुपम सर्वात्मसमर्पण है !

(२)

एक दूसरी भाव-तरङ्ग है—एक प्रेमहृदया गोपी सदा सर्वत्र अपने मन-बुद्धि-इन्द्रिय सबमें एकमात्र प्रियतम श्रीकृष्णके ही मधुरतम स्पर्शका अनुभव करती है और श्रीकृष्णके द्वारा उनकी मधुर उक्ति सुनती है। वह अपना अनुभव कहती है—

'वे मेरे प्रियतम श्यामसुन्दर नित्य-निरन्तर मेरे हृदयमें रहते हुए दर्शन देते रहते हैं, कभी अदृश्य होते ही नहीं। बस, वे मेरे हृदयदेशमें ही निश्चल डेरा डाले सदा सुखसे सोते रहते हैं। वे मेरे हृदयमें किसी अन्यको घुसने तो देते ही नहीं, उधर झाँकने भी नहीं देते। (हृदयमें उनके अतिरिक्त अन्य किसी विषयकी कल्पनाकी छाया भी नहीं पड़ती।) वे वहाँ अपना पूर्ण अधिकार जमाये हुए पूर्ण आनन्द लेते हैं। हृदयकी तो बात ही क्या, बाहर भी मेरे चारों ओर वे सदा निवास करते हैं। अतः मेरी इन्द्रियोंकी सीमाके भीतर कभी किसीको नहीं आने देते।

रहते नित्य हृदयमें मेरे,
कभी न ओझल होते।
वहाँ अचल डेरा डाले,
बस, रहते सुखसे सोते॥
नहीं किसीको घुसने देते,
नहीं झाँकने देते।
पूरा निज अधिकार जमाये
पूरा आनँद लेते॥
बाहर भी वे रहते मेरे
चारों ओर निरन्तर।
नहीं किसीको आने देते,
इन्द्रिय-सीमा अंदर॥

वे मेरे नयनोंके तारे सदा मेरी आँखोंमें छाये रहते हैं। कानोंमें वे प्रियतम सदा मधुर वचन तथा संगीत सुनाकर अमृत उँड़ेलते रहते हैं। नासिकाको अत्यन्त मधुर अनुपम अपने अङ्गकी सुगन्ध सुँघाते रहते हैं। रसनाको सदा-सर्वदा अपना रसमय परम मधुर प्रसादामृत चखाते रहते हैं। अङ्ग-अङ्गको नित्य-निरन्तर अपना मधुर स्पर्श देकर धन्य करते रहते हैं। यों उन्होंने जगत्के अन्य समस्त सम्बन्धोंको बिल्कुल हरण कर लिया है।

इस प्रकार मेरी बुद्धिमें, मनमें और समस्त इन्द्रियोंमें वे सदा बसे रहते हैं और मुझपर एकच्छत्र पूर्णाधिकार किये हुए वे दृढ़ स्वरमें यों कहते हैं—

रहते सदा दृगोंमें छाये,
वे नयनोंके तारे।
कानोंमें मधु-वचन-सुधा
संगीत सुनाते प्यारे॥
नासाको मीठी अति अङ्ग-
सुगन्ध सुँघाते अनुपम।
सरस प्रसाद-सुधा रसनाको
मधुर चखाते हरदम॥
अंग-अंगको स्पर्श दानकर
धन्य सदा वे करते।
अन्य सभी जगके सम्बन्धों-
को वे बिल्कुल हरते॥
यों मतिमें, मनमें, इन्द्रियमें
सदा बसे वे रहते।
एकछत्र अधिकार किये वे
दृढ़ स्वरमें यों कहते॥

सुनो! तुमपर, तुम्हारी समस्त वस्तुओंपर, मेरा पूर्ण अधिकार हो चुका है और तुम भी मेरे अतिरिक्त अन्य किसीको कभी 'मेरा' नहीं कहती हो। इस प्रकार केवल एक मैं तुम्हारा हूँ और केवल तुम एक मेरी प्रियतमा हो। हम दोनों एक हैं, सदा एक ही रहेंगे। न कभी मैं पृथक् हो सकता हूँ और न कभी तुम पृथक् हो सकती हो।

तुमपर, वस्तु तुम्हारी सबपर,
पूरा कब्जा मेरा।
मेरे सिवा अन्यको तुम भी
कभी न कहती 'मेरा'॥
यों मैं सिर्फ तुम्हारा,
तुम हो केवल मेरी प्यारी।
एक, सदा ही एक रहेंगे,
कभी न न्यारा न्यारी॥

कितना आदर्श समर्पण और एकात्मभाव है। जगत् रहा ही नहीं। बस, प्रभु और प्रेमी दो ही एक होकर रह गये!

आज मेरा जीवन पूर्णरूपसे भगवान्का ही हो गया है

आज मैं अपने अन्तरमें नित्य स्थित भगवान्को अपने माध्यमसे स्वच्छन्द सक्रिय होने देनेके लिये प्रस्तुत हो गया हूँ। अपने 'अहं' को पकड़कर मैं अपने विवेक, अपनी बुद्धि, अपनी शक्ति तथा अपने सामर्थ्यको ही सब कुछ माने हुए था और भगवान्के मङ्गलमय स्वच्छन्द कार्यमें बाधा दे रहा था; पर आज मैं अनुभव कर रहा हूँ कि मेरी ये सब चेष्टाएँ असत्य, मिथ्या और भगवान्की मङ्गलमयी क्रियाओंमें बाधक होनेके कारण मेरे लिये सभी अवस्थाओंमें दुःखदायिनी हैं। अब भगवत्-चेतनाके प्रकाशमें मैं भगवान्की शक्तिको ही जीवनमें सक्रिय होने दे रहा हूँ; उसके सहज मार्गमें किसी भी प्रकारका अवरोध उपस्थित न कर, उसके साथ पूर्ण सहमत होकर उसमें सहायक होनेका प्रयत्न कर रहा हूँ। आज मेरे शरीर, मन और वाणीसे जो भी क्रिया हो रही है, सब भगवान्की ही हो रही है। मैं वही कर रहा हूँ, जो वे करा रहे हैं। मेरा 'अहं' निष्क्रिय हो गया है। अब मेरा खाना-पीना, सोना-उठना, काम करना—यहाँतक कि श्वास लेना भी भगवान्का ही कार्य है।

आज मेरा जीवन पूर्णरूपसे भगवान्का ही हो गया है।

मानस-रामायण

(लेखक—डा० श्रीबलदेवप्रसादजी मिश्र, एम्०ए०, डी०लिट्०)

(१)

यह सब क्या है ? अद्भुत लीला; निराकार साकार बन गया,
नाम-रूपसे जो अतीत था, उसपर सीमा-बन्ध तन गया।
किसी समय जो हुआ विभूषित, एक अनेकोंकी संज्ञासे,
उस अव्यक्त अनादि व्यवस्था-निधिके हैं ये कवि-दृग प्यासे॥

(२)

प्यासे कवि-दृग, तृषित भक्त-दृग, अपनी प्यास बुझाते आये,
निज भावानुरूप ही अगुणीके गुण-गण हैं गाते आये।
गाये बिना न विरम सकी है किसी देशके कविकी वाणी,
देखे बिना न तुष्ट हुई है किसी कालकी मति कल्याणी॥

(३)

सत्य न केवल सत्य रह सका, स्वतः सहज सौंदर्य दिखाया,
जहाँ देखना और दिखाना, वहाँ शिवत्व आप लहराया।
'सत्यं शिवं सुन्दरम्'का यह अखिल विश्व लीला-विलास है,
जिसकी एक एक थिरकनमें दिव्यलोकका भरा रास है॥

(४)

हम तुम क्या हैं ? उसकी मौजें; नित्य नये नाटक रचते हैं,
फिर भी नाटकको सचा कह उसके सुख-दुखमें पचते हैं।
हम अपनेको भूल भटकते, वह हममें हँसता रहता है,
उससे ही तो पता हमारा लगता उसका पर न पता है॥

(५)

हम सबका जो आदि रहा हो, वह अनादि अब अपने लेखे,
हमने तो ज्योंही दृग खोले, हम तुम-से कितने ही देखे।
जन्मजात अब तो उमंग है, कैसे अमर शान्ति सुख पायें,
कैसे दारुण दैन्य दुराशा दुःख-दाहके द्वन्द्व भगायें॥

(६)

दौड़ाती हमको उमंग यह, भाँति-भाँतिके पंथ दिखाकर,
उर-अन्तर कह उठता हमसे, 'सोचा ? अन्तिम लक्ष्य कहाँपर'।
हम आराधक, और लक्ष्य वह बनता है आराध्य हमारा,
कृती वही जिसने उसके ही चरणोंपर निज तन-मन वारा॥

(७)

हमसे बढ़कर प्रबल सत्य है वह आराध्य हमारा प्रियतम,
हम उसके हैं, वह सबका है, परम सुगम फिर भी अति दुर्गम।
उसका ही दर्शनाभिलाषी, विविध छटामें जगका प्राणी,
कोटि-कोटि शब्दावलियोंमें उसे टेरती जगकी वाणी॥

(८)

वही राम है, वही श्याम है, बुद्ध वही, वह अर्हत् वर है,
गॉड कहें अल्लाह कहें हम, नियम, नियन्ता या नेचर है।
अशरीरी सशरीरी कह लें, बुद्धि लगाती हो जो बन्धन,
सबके भीतर थिरक रहा है उसी देवका मादक स्पन्दन॥

(९)

किया बुद्धिने जिसका चिन्तन, हृदय उसे सप्राण बताता,
इन्द्रिय-अभिलाषा रहती है, उससे जुड़ ले चाक्षुष नाता।
नर-चरित्रमें इसीलिये तो विभु-चरित्र जब आ मिलता है,
तब मृण्मयमें अनायास चिन्मय-लीला-विलास खिलता है॥

(१०)

भावुक भक्त मुग्ध होते हैं देख देख वह लीला बाँकी,
जिसने जैसी दृष्टि उठायी, उसने वैसी पायी झाँकी।
नराकार तक बँधे रहे कुछ, कुछने सुराकार भी देखा,
और किन्हींने उस चरित्रमें, निराकारका चरित सरेखा॥

(११)

हम कल्पना-लोकमें पाते भावलोकहीकी परछाईं,
और कल्पनाकी गाथाएँ वस्तुलोकमें प्रायः आईं।
रामकथा है इसी दृष्टिसे, नश्वर नर-इतिहास न केवल,
सुरगाथा है वह, जिसमें है सुदृढ़ भाव चिन्तनका सम्बल॥

(१२)

हमें चाहिये वह अविनश्वर राम, हमें कृतकृत्य बना दे,
देश-कालसे जो ऊँचे रह, हमें अमित आनन्द दिला दे।
हमें चाहिये वह मनरंजन, मनका लोहा सोना कर दे,
निज करुणासे, प्रेमामृतसे, उरका कोना-कोना भर दे॥

(१३)

प्रेय श्रेयके विषम द्वन्द्वमें श्रेय-विजयकी कथा वहाँ हो,
भक्त-भक्ति-भगवन्त-भावमें जीव-उत्क्रमण-प्रथा वहाँ हो।
हमें चाहिये वह रामायण, उरका दानवत्व जो ढाये,
और उसे सच्चे अर्थोंमें दिव्य रामका अयन बनाये॥

(१४)

तुलसीने वाल्मीकि-प्रथासे हमको ऐसी कथा सुनाई,
जिसमें केवल मनुज नहीं हैं दानव देव सभी सुखदाई।
वानर रीछ गीधतक जिसमें कामरूप हैं सेवक वर हैं,
हरण-मरण-मारण-रण-प्रकरण, सबके सब ही लीलापर हैं॥

(१५)

भूतलकी रामायणसे बढ़ वह मानसकी रामायण है,
जिसके अनुशीलनसे बनता पावन मानसका कण-कण है।
दोषदृष्टिका, दुष्ट तर्कका, कहीं न कोई वहाँ स्थान है,
लीलामयके उस चरित्रमें सब सार्थक है, सब महान है॥

(१६)

क्या मन्थरा करेगी, वह था विपिन-गमन प्रभु-इच्छा केवल,
क्या निशाचरी युद्ध; हुआ था वह तो प्रभुकी लीलाके बल।
भक्तोंके घर स्वतः पहुँचना, शिष्ट दुष्टको मुक्ति दिलाना,
विश्व-नियन्ता लीलामयका यह सब तो था अपना बाना॥

(१७)

सूर्पणखा थी कामरूपिणी, वह विरूप रह सकी सदा कब,
कौन आड़का दोष, बालि था प्रतिपक्षी को जान रहा जब।
कहाँ अपहरण कहाँ त्याग, जब सीता रघुबरसे अभिन्न हैं,
लीलाके इस चमत्कारमें भक्त न होते खेद-खिन्न हैं॥

(१८)

निर्विकारने जग-मर्यादा पाल, जनोंके भाव उभारे,
राग-द्वेष भी, काम-क्रोध भी, निखर हो उठे प्यारे प्यारे।
राम-सरीखे निर्मल बन हम, रावणत्व निज दूर हटायें,
रामायणका पाठ सफल तब मनमें जब ये भाव समायें॥

(१९)

तर्क छोड़, श्रद्धासे हम सब रामकथाके तत्त्व निहारें,
आर्य-अनार्य कि उत्तर-दक्षिण-द्वन्द्व न हम उसमें स्वीकारें।
सच्ची है वह, जिस सीमातक वह रामत्व उभार सकेगी,
विविध रूपमें कविकी वाणी, गा-गाकर न थकी, न थकेगी॥

(२०)

अन्नकोष लंका नरतनुमें, किष्किन्धा ही प्राण-कोष है,
पंचवटी ही मनःकोष है, चित्रकूट विज्ञान-कोष है।
और अयोध्याकी अवनी है शुभ आनन्दकोष छबिवाली,
पिण्ड और ब्रह्माण्ड उभय हैं इनहीं कोषोंसे श्रीशाली॥

(२१)

जीवनकी वर ज्योति अयोध्यासे चल चित्रकूटपर छाई,
पंचवटी किष्किन्धासे बढ़ लंकाकी संशुद्धि कराई।
वह है तो सब कुछ पावन है, उसके बिना सभी सूना है,
यह सभ्यता-विकास न समझा, तो समझो विवेक ऊना है॥

(२२)

संस्कृतिका यह ही विकास है, लंकासे किष्किन्धा जावे,
और वहाँ व्यापक बन, आगे तपकर मनके छद्म ढहावे।
चित्रकूट तब कहीं मिलेगा, विश्व-व्यवस्था-निर्णयवाला,
तदनन्तर साकेत उपस्थित, सर्वश्रेष्ठ अक्षय रखवाला॥

(२३)

जो जन-जनका आकर्षक है, जन-जनके नयनोंका तारा,
ज्ञान-स्वरूपी प्रेमधाम जो वह सच्चित् ही राम हमारा।
और उसीकी माया सीता, विद्या बन जो लक्ष्मी लायीं,
तथा अविद्या बनकर ही जो रावण-विध्वंसिका कहायीं॥

(२४)

मानव-जीवोंके जीवनमें घटित हुआ करती रामायण,
पिण्ड और ब्रह्माण्ड उभय हैं जिससे सदा प्रभावपरायण।
राजसकी सहायता लेकर, सात्त्विक, तामसको संहारे,
यह संघर्ष-कथा कहती है, मानव निजको आप उबारे॥

(२५)

सात्त्विकता है अवध, राजसिकता है किष्किन्धा जनशाली,
और तामसिकता लंका है, बहुविध ऐन्द्रिय भोगोंवाली।
केवल तर्कबुद्धिसे जन-मन सरस रहस्य न लेख सकेगा,
यदि श्रद्धा-सम्बल है उसमें तो यह सब कुछ देख सकेगा॥

(२६)

त्रिविध अहं त्रिपुरीके पति हैं, सात्त्विक आवृत पूत ज्ञानसे,
राजस तामस अहं मिटेंगे ज्ञान-सूर्यके किरण बाणसे।
चित्त बुद्धि मन, भरत लखन रिपुसूदन यदि हैं सात्त्विक पुरमें,
तो सुकण्ठ मारुति अंगद हैं, क्रमशः तीनों राजस उरमें॥

(२७)

कुंभकर्ण, चैतन्य विभीषण, मेघनाद, तामसपुरवासी,
चित्त बुद्धि मनकी प्रतिमासे, रामायणके तत्त्व-विकासी।
ज्ञान ब्रह्म है, ज्ञान राम है, त्रिविध बुद्धियाँ अनुचर होवें,
राजस चित्त रहे आश्रित नृप, काम्य यही, त्रिपुरी दुख खोवें॥

(२८)

त्रिविध बुद्धियोंपर प्रभु-करुणा जब होती है तब सुख मिलता,
और पुष्ट उनके योगोंसे ज्ञान-शान्ति-संगम फिर खिलता।
सीताराम विराजित जब हों जीव-हृदयके सिंहासनपर,
तब त्रिजगत्में छा जायेगा, रामराज्य सुखमय त्रितापहर॥

(२९)

दशरथ सात्त्विक अहं दसों इन्द्रियका जो प्रख्यात रथी है,
दशमुख तामस अहं कि जिसकी इन्द्रिय भोगमुखी मति ही है।
राजस अहं बालि बलशाली नर होकर निशिचरका संगी,
विश्व नियम हैं मूर्तिमान् ऋषि, घटना-सर्जक शक्ति तरंगी ॥

(३०)

नारद विधि संकेत, प्रेरणा हैं वशिष्ठ, कौशिक विधिके बल,
सबने चाहा तामस ध्वंसन, सात्त्विक-अहं-सफलता केवल।
नरतनुरूपी भारत भूपर देखा जब कि व्यथा-घन छाये,
पुत्र इष्टि रच दी, पुत्रोंके बहु प्रकार संस्कार कराये ॥

(३१)

दशरथकी थीं तीन रानियाँ, जिज्ञासा, भावना, क्रिया ही,
कौसल्या, कैकई, सुमित्रा, बुद्धि-चित्त-मनकी माता सी।
शुद्ध ज्ञान कौसल्या सुत बन, सात्त्विक चित्त कैकई जाये,
बौद्धिक भावुक कर्म युगल हीं, युगल सुमित्रा सुत बन आये ॥

(३२)

ज्ञान और सद्बुद्धि क्रियाने पाकर विधिकी शक्ति निराली,
ताड़क तामसकी सुबाहु भी काटीं, करके मख रखवाली।
उसीं ज्ञानका वरण करेंगी सीता शाश्वत शान्ति सुहाई,
जो चिन्तन-साधना-रूप-मय जनक-सुनयना-सुता कहाई ॥

(३३)

दैव जनक, चिति दृष्टि सुनयना, सीता-स्मृतिके पालन कर्ता,
अध्यात्म-स्मृति तभी सफल है, पूर्ण ज्ञान हो उसका भर्ता।
अंग रूपसे राजस तामस जीवोंमें स्मृतियाँ जो आतीं,
तारा मन्दोदरी सदृश वे, केवल असफलता हैं पातीं ॥

(३४)

शिव विश्वास, शिवा हैं श्रद्धा, हरधनु जग-जड़त्व अलबेला,
ज्ञान तोड़ता जिसे शान्तिहित, सब विपक्ष-बल जिसने झेला।
परशुराम हैं तर्क, भले ही जिनने राजस शक्ति ढहाई,
शुद्ध ज्ञानके सन्मुख आकर, पर थी आप पराजय पाई ॥

(३५)

सात्त्विक अहं अहं है आखिर, और भावना इच्छा केवल,
ममतारूप मन्थरा माया, कर देती है उसको चंचल।
जिसके वश हो अहं, ज्ञानको तजता है करता वनवासी,
मिटता है वह; किंतु न होता शुद्ध चित्त है विषय-विलासी ॥

(३६)

गुह-जनमतको बन्धु बनाकर, भाव रहेगा ज्ञान-पुजारी,
और प्रेरणा पा रच देगा, सुखमय जगद् व्यवस्था सारी।
सूर्पणखा विषयाशा जब है, उधर ज्ञानको फँसा न पाती,
तब उकसाकर तमस मोहको, कभी शान्तिका हरण कराती ॥

(३७)

हरण भले हो, वरण न होगा, मोह लाख अपना सिर धुन ले,
शान्ति अ-शोक विपिनमें होगी, यह स-शोक वह मनमें गुन ले।
ज्ञान उसीकी तमस बुद्धिको, किसी दिवस निज दास बनाकर,
उसे ध्वस्त सकुटुम्ब करेगा, प्रेमभूमि लंकाको ढाकर ॥

(३८)

अन्तर्दैवत ही जटायु था, शान्तिहरण जो सह न सका था,
किंतु मोहकी विषम मारसे, जो बेचारा हार थका था।
आशाका क्षण है अशोक वन, जहाँ शान्तिकी झाँकी देखे,
किंतु बड़ी है भूल, मोह यदि उसको वशवर्तिनी सरेखे ॥

(३९)

छल मारीच मोह-संगी बन, मरा किंतु दे गया विरह दुख,
ज्ञान हुआ तब परम साधना भूमि सदृश किष्किन्धा अभिमुख।
राजस अहं बालि था जिसमें और चित्त सुग्रीव बना था,
मन था अंगद बुद्धि पवनसुत, सत्कृतित्व कपिवृन्द घना था ॥

(४०)

स्मृति-ताराने बहुत चिताया, राजस अहं न फिर भी चेता,
ध्वस्त हुआ वह, चित्त ज्ञानका मित्र, हुआ साधनका नेता।
सद्विचारवत् हनूमानने शान्ति-सियाका पता लगाया,
पथरोधक थीं त्रिगुण शक्तियाँ, उनको यथायोग्य निपटाया ॥

(४१)

यही नहीं, वैराग्यरूप वन, मोह दुर्गको भस्म किया भी,
और तामसी बुद्धि सुधारी, शरणागतिका तत्त्व दिया भी।
पूर्वस्मृतिरूपा मय-तनया विफल हुई पतिको समझाकर,
वह अभिमानी किंतु न माना, माना तामस अहं कहाँपर ॥

(४२)

दुर्वासना-निसाचर काँपे, सेतु-साधना-मार्ग बना जब,
दैव-कृपा-अवसर सुबेलसे, निशिचर-ध्वंसी ठाठ ठना तब।
मोह-महीपतिने प्रमादके नागपाश बहुभाँति चलाये,
किंतु विवेक गरुड़-वाहन उस शुद्ध ज्ञानको बाँध न पाये ॥

(४३)

तामस मनने सक्रियतापर बाण चलाकर जोर दिखाया,
शुद्ध ज्ञानको, सक्रियताको, जिसने क्षणभर विचल बनाया।
कालनेमि था कपट, चेतना मकरी, जिसने कपि-मति फेरी,
पा संजीवन लक्ष्मणजीकी जागृतिमें फिर लगी न देरी॥

(४४)

रावण अहं इन्द्रजित मन था, कुंभकर्ण था चित्त बुभुक्षित,
और विभीषण मूर्तबुद्धि था, तामस भोगभूमि परिनिष्ठित।
काम-क्रोधके, लोभ-मोहके चतुर्द्वार थे वहाँ सजाये,
दुर्वासना-निसाचरगण थे उसमें अपने स्थान जमाये॥

(४५)

ध्वस्त हो गई ऐसी लंका, बुद्धि-विभीषण बचा निराला,
प्रभु-प्रपन्न बन, सात्त्विकता रख, शोधित अपना राज्य सँभाला।
मर्यादामें राजस तामस राज्य रहे सात्विक-अनुवर्ती,
रामराज्य था सफल सभी विधि, मिटी अहंता शान्ति-विहर्ती॥

(४६)

और देखिये, जब-जब सात्त्विक चित्त ज्ञानसे अलग रहा था,
तब-तब प्रभुने विपिन-वास या शान्ति-विरहका दुःख सहा था।
राजस अहं नष्ट कर, पर जब राजस चित्त सहाय बनाया,
तब ही फिरसे शान्ति प्राप्त की, और जगत्में नव सुख छाया॥

(४७)

भूत भविष्यत् वर्तमानकी युगयुगीन यह राम-कथा है,
ज्ञान-शान्ति-संयमकी गरिमा, काम-क्रोधकी जहाँ व्यथा है।
अपना मृण्मय भी उदात्त बन, चिन्मय सदानन्द हो जाये,
श्रेयपथी बन, धर्मरथी बन, नर सब विधि कृतकार्य कहाये॥

(४८)

हृदय रमा दे राम वही है, जग-विद्रावण रावण जानें,
संघर्षोंकी और विजयकी जीवनमें स्थितियाँ पहिचानें।
तभी समझिये मनुजस्तरमें रामायणकी सफल कथाएँ,
शक्ति शील सौन्दर्य रामके उतर हमारे मनमें आएँ॥

(४९)

प्रेम रामका, त्याग भरतका, लक्ष्मणकी सेवा स्पृहणीया,
सहनशीलता सीताजीकी, मारुतिकी सुभक्ति कमनीया।
रावणसे दुर्धर्ष वीरका वह अभिमान और वह परिणति,
राम-कथा क्या, यदि न रँग गई इनके रसमें मानवकी मति॥

(५०)

काम-क्रोध आकर्षक जनके, स्वतः सिद्ध वे जन्मजात हैं,
सुनते सहज समुत्सुकतासे काम-क्रोधकी मनुज बात हैं।
काम-क्रोधकी जो निकृष्टता, उसका मूर्त रूप है रावण,
काम-क्रोधकी जो उदात्तता, वह ही राम-कथा मन-भावन॥

(५१)

तत्व मानवी रामायणके भी हैं इतने गौरवशाली,
खिल उठती है जिनको पाकर लोक-चरितकी डाली-डाली।
भारतहीमें नहीं, विदेशों तक व्यापी है राम-कहानी,
यह अनुपम सम्पत्ति हमारी, सदा अमर है इसकी बानी॥

(५२)

भाव उदात्त बनानेवाली रोचक अद्भुत कथा यहाँ है,
रसमें डूब गगनमें उड़ना, ऐसी अद्भुत प्रथा यहाँ है।
त्रेतायुगमें उतरी होगी वह रामायण दिव्यलोकसे,
किंतु करेगी यह रामायण मुक्त सदा जनलोक शोकसे॥

(५३)

इसका मर्म सुधीजन समझें, आचरणोंमें इसे उतारें,
तो वे निजको नहीं, अनेकों अन्योंको निश्चय ही तारें।
संभव और असंभव कहकर जो केवल इतिहास चुनेंगे,
राम-कथाका रस वे खोकर निश्चय है सिर आप धुनेंगे॥

(५४)

छिद्रान्वेषी क्या पायेगा कण्टक और व्रणोंको गिनकर,
जो कण्टक या व्रण जँचते हों उनमें भी है मतिका अन्तर।
सहृदय ऐसा कौन, कहे जो 'मतिविभ्रमका कुरस चाहिये',
जड़ें खोदनेमें उनको क्या, जिन्हें फलोंका सुरस चाहिये॥

सुधामयी कृष्ण-पद-रति

विषय-रस नीरस सदा है विष भरा संतापमय।
विषय-रतिसे नित्य बढ़ता है, इसीसे शोक-भय॥
कृष्ण-पद-रति है सुधामयि दिव्य अति माधुर्यमय।
तनिक-से आस्वादसे सब दूर होते शोक-भय॥

साधकके उद्गार

(१)

प्रभो ! आपको तो प्रेमके सुधारस-समुद्र तथा दयाके अमित निधान कहा जाता है, फिर आप इतने रूखे, नीरस तथा निष्ठुर कैसे हो गये ? यह निष्ठुरता, यह तरसानेकी कर्कश क्रिया कबतक चलती रहेगी मेरी आत्माके आत्मा ? मैंने ऐसा कौन-सा पाप किया है ? मुझसे कौन-से भीषण दुष्कर्म हुए हैं ?—जिनके फलस्वरूप आप मुझे ऐसा भीषण दण्ड दे रहे हैं !

× × ×

आप जानते हैं—घट-घटवासी अन्तर्यामी हैं—मेरे मनमें आपके मधुर दर्शन, नित्य आपकी चरण-सन्निधिकी प्राप्ति एवं आपकी मधुर स्मृतिके अतिरिक्त और कोई कामना-वासना नहीं है। फिर भी आपका वज्र-हृदय द्रवित नहीं होता। क्या बात है ? मुझे दीखती तो नहीं, पर कदाचित् कोई अन्य कामना-वासना हृदयमें छिपी हो, तो सर्वसमर्थ ! आप उसका तुरंत मूलोच्छेद कर डालिये। मुझे तो ऐसी किसी दुर्लभ दैवी वस्तुकी भी आवश्यकता नहीं है, जो आपके मिलनमें बाधक हो, फिर संसारके प्राणी-पदार्थों और विषयोंकी कामना-वासनाकी तो बात ही क्या है।

× × ×

एक बात है मेरे नटखट प्राणप्रियतम ! आपको शायद इसीमें मजा आता हो। यदि ऐसी बात हो, इसीमें आपको सुख मिलता हो तो मेरे प्रभो ! ऐसा ही करते रहिये। कभी मत मिलिये, कभी दर्शन मत दीजिये। पर मेरी एक प्रार्थना अवश्य स्वीकार करनी होगी—मेरे मनको निरन्तर अपने चरणप्रान्तमें बसाये रखिये। शरीर कहीं रहे, किसी भी योनिका रहे, पर मन सदा आपके पास रहे। आपके मनके साथ मिला रहे। क्षणभरके लिये भी कभी दूर न हो, विलग ही न हो।

× × ×

मुझे पता है—मेरा आपके यथार्थ प्रेमसे तनिक भी परिचय नहीं है। अभी तो मेरे सूखे और कठोर हृदयमें प्रेमका अङ्कुर भी नहीं उत्पन्न हुआ है। जब अङ्कुर ही नहीं, तब उसके बढ़नेकी तो कल्पना ही कैसे की जाय ? आप ही कृपया बता दें, वह प्रेम-बीज कहाँ मिलेगा, जिससे मैं उसे लाकर हृदय-भूमिमें बो दूँ। पर उसके बाद भी क्या पता कि मेरे सूखे हृदयमें उसका अङ्कुर उत्पन्न होगा या नहीं। हृदय अत्यन्त नीरस है। यह सब सोचकर मेरे दयामय स्वामी ! कभी-कभी बड़ी निराशा हो जाती है; परंतु दूसरे ही क्षण आपके सहज सौहार्दकी, अहैतुक प्रेम-स्वरूपकी स्मृति होते ही मेरी आशा-लता सहसा लहलहा उठती है। मुझे विश्वास हो जाता है कि प्रभुने मुझे अपना लिया है, सदाके लिये अपना बना लिया है। मेरे हृदयकी नीरसताका नाश करके प्रेमके अनन्तानन्त सिन्धु मेरे प्रभु उसमें भी एक प्रेम-समुद्रका समुद्भव कर देंगे—अवश्य कर देंगे और फिर वह अथाह रस-सुधा-निधि बनकर सदाके लिये लहराने लगेगा। और मेरे प्राण-प्राण प्रभु निरन्तर उसमें नित्य नव क्रीडा करते रहेंगे।

(२)

प्रभुका चिन्तन ही मेरे जीवनका परम धन और जीवनाधार बन गया है। मन कभी भरता ही नहीं। एक छोटे-से मनसे चिन्तन हो भी कैसे—कोटि-कोटि ऐसे मन होते तब चिन्तनका कुछ आनन्द आता ! प्रभुकी अनन्त गुणावली, उनकी मधुर-मधुर स्मृति मनमें समाती ही नहीं। सदा अतृप्ति ही बनी रहती है। पता

नहीं—मेरे जीवनकी यह प्यास कभी मिटेगी या नहीं। लोग कहते हैं प्रभुकी सन्निधिमें नित्य तृप्ति हो जाती है। पता नहीं, वह कैसी सन्निधि होती होगी। मुझे तो कभी तृप्तिका अनुभव होता ही नहीं। प्यास बढ़ती ही जाती है।

× × ×

मनकी बात कैसे बताऊँ—मनकी भाषाके लिये कोई शब्द ही नहीं मिलता। उसे तो वही समझते हैं, जो निरन्तर मनमें बसे रहकर उसकी प्रत्येक परिस्थिति—क्षुद्र-से-क्षुद्र कल्पनाको भी स्वयं देखते हैं।

× × ×

प्रभु ही मेरे जन्म-जन्मान्तरके एकमात्र हितू हैं, वे ही मेरे परम सुहृद्, परम आत्मीय, अभिन्न-स्वरूप हैं। इसीसे प्रभुके सामने मेरा जीवन खुला है, कुछ भी उनसे छिपा नहीं है। उनसे न जरा भी भय है, न संकोच और न लज्जा ही है। अपने-आपसे भय-संकोच-लज्जा होते ही नहीं।

× × ×

प्रभु नित्य-निरन्तर मेरे मनपर एकाधिकार किये उसमें विराजित रहते हैं। दूसरे किसीको वे कभी अपने अधिकृत स्थानमें नहीं आने देते। इसीसे मुझे कभी दूसरा कुछ भी न सुहाता है, न अच्छा लगता है। कहीं वृत्ति जाती ही नहीं; क्योंकि सारी वृत्तियोंमें वे ही समाये रहते हैं। यदि कभी कोई वृत्ति कहीं जाना चाहती है तो आगे-से-आगे मेरे प्रभु वहाँ विराजित रहते हैं। वृत्ति जाकर उन्हींमें समा जाती है।

× × ×

मन एक क्षण भी प्रभुको छोड़ना नहीं चाहता, कभी आधे क्षणको यदि प्रभुकी मधुर स्मृति छूट जाती है तो घोर दुःख अथवा परम व्याकुलता होने लगती है। असीम अनन्त संकट आ जाता है, यह होते ही उसी क्षण प्रभुकी स्मृतिसे मन भर जाता है। इतना अपार आनन्द होता है, मानो अनन्त प्राणोंसे अधिक प्रिय निधि मिल गयी हो। एकान्तमें बैठनेपर तो उठनेको मन चाहता ही नहीं।

× × ×

मेरे बुद्धि, मन, तन, प्राण, इन्द्रिय, रोम-रोम प्रभुके परमानन्दमय संस्पर्श-समुद्रमें सदा डूबे रहते हैं। कभी बाहर निकलनेकी कल्पना ही नहीं होती। पता नहीं, प्रभुको क्या आनन्द मिलता है—इन सबको अपने अंदर डुबाये रखकर निरन्तर इनको अपना दिव्य संस्पर्श प्रदान करनेमें!

× × ×

मुझे ऐसा लगता है—प्रभु मेरे मनकी बात न करके अपने ही मनकी करते हैं। इसीसे तो मेरे इच्छा करनेपर भी वे मेरे मन, बुद्धि, देहेन्द्रिय, प्राण-जीवन या रोम-रोमको छोड़कर कभी अलग नहीं होते। न उनको कभी अलग होने देते हैं। मालूम होता है, वे मुझमें घुल-मिलकर एक हो गये हैं। मेरा कोई अलग अस्तित्व ही नहीं रह गया है। वे ही आत्मा हैं, वे ही प्राण हैं, वे ही जीवन हैं और सब कुछ वे ही हैं।

मेरे प्रत्येक श्वासमें भगवान्‌का प्यार भर गया है

अब मैं बिना हिचक कहता हूँ कि मैं भगवान्‌का हूँ और भगवान्‌के ही साम्राज्यमें सदा-सर्वदा रहता हूँ, उन्हींकी छत्रछायामें निवास करता हूँ। भगवान्‌का सहज स्नेह नित्य मुझे प्राप्त है। मैं सदा उनके प्यारसे सराबोर हूँ; क्योंकि भगवान्‌का प्रेम एक ऐसी करुणामयी जीवन्त सुधा-धारा है, जो सदा सर्वत्र प्रवाहित है। मैं अनुभव करता हूँ कि वह धारा मुझमें और मेरे द्वारा सर्वत्र प्रवाहित है तथा वही समस्त जगत्‌में निरन्तर बह रही है। भगवान्‌का यह सहज सौहार्द, अनवरत प्रवाहित प्रेमधारा ही हमारा बल है, हमारी मुक्ति है। मैं प्रत्यक्ष अनुभव करता हूँ कि भगवान्‌का प्यार मेरी वस्तु है और भगवान्‌के इस प्यारको—इस महान् करुणामयी शक्तिको ग्रहण करनेके लिये मेरे जीवनका द्वार सदा उन्मुक्त है। मेरे प्रत्येक श्वासमें भगवान्‌का प्यार भर गया है।

मेरा 'अहं' बोलता है

[मद, कारण और निवारण]

(लेखक—पं० श्रीकृष्णदत्तजी भट्ट)

('कल्याण' नवम्बर सन् १९५८ के पृष्ठ १३३१ से आगे)

(२)

मैं पैसेवाला हूँ । मैं रुपयेवाला हूँ ।
मैं टमटमवाला हूँ । मैं मोटरवाला हूँ ।
मैं गहनेवाला हूँ । मैं हीरेवाला हूँ ।
मैं सोनेवाला हूँ । मैं चाँदीवाला हूँ ।
मैं नौकरवाला हूँ । मैं बँगलेवाला हूँ ।
मैं गायवाला हूँ । मैं भैंसवाला हूँ ।
मैं रेडियोवाला हूँ । मैं दूकानवाला हूँ ।
मैं शानवाला हूँ । मैं प्रतिष्ठावाला हूँ ।
मैं बीबीवाला हूँ । मैं बच्चेवाला हूँ ।
मैं ओहदेवाला हूँ । मैं रुतबेवाला हूँ ।
मैं लिखनेवाला हूँ । मैं पढ़नेवाला हूँ ।
मैं हँसनेवाला हूँ । मैं रोनेवाला हूँ ।
मैं विद्यावाला हूँ । मैं बुद्धिवाला हूँ ।
मैं शक्तिवाला हूँ । मैं यौवनवाला हूँ ।
मैं कुलवाला हूँ । मैं नामवाला हूँ ।
मैं कामवाला हूँ । मैं गुणवाला हूँ ।
मैं चरित्रवाला हूँ । मैं ईमानवाला हूँ ।
मैं करुणावाला हूँ । मैं दयावाला हूँ ।
मैं त्यागवाला हूँ । मैं सेवावाला हूँ ।
मैं तपस्यावाला हूँ । मैं साधनवाला हूँ ।
मैं सिद्धिवाला हूँ । मैं ज्ञानवाला हूँ ।
....

यों मेरे गुणोंकी फेहरिस्त एक-दो पन्नोंमें समानेवाली नहीं है । मेरी तारीफ विष्णुसहस्रनामसे कम नहीं होगी ।

अहंकारके ऐसे एक नहीं, अनेक प्रकार हैं ।

मद किसी एक वस्तुका नहीं, असंख्य वस्तुओंका होता है ।

× × ×

किसीको धनका मद होता है ।

वह जमीनपर सीधे पैर नहीं रखता । किसीको अपने बराबर नहीं मानता । छोटोंकी तो बात ही क्या, बड़ों और बुजुर्गोंका भी सम्मान नहीं करता । जिससे भी बोलता है, ऐंठकर । बड़ी बुरी होती है पैसेकी गरमी !

जमीन और जायदाद, कार और बँगला, रेडियो और टेलीफोन, सोना और चाँदी, हीरा और मोती, ऐशोइशरतके—भोग-विलासके असंख्य साधन—सहज ही मनुष्यको मदान्ध बना डालते हैं । मनुष्य इनके मदमें पड़कर मनुष्यको मनुष्य नहीं मानता । जो न करना चाहिये, सो कर बैठता है । जो न बोलना चाहिये, सो बोल बैठता है ।

धन और वैभवके मदमें पड़कर विश्वमें जितने अनर्थ होते हैं, उतने और किसी कारणसे नहीं होते । इनके फेरमें पड़कर मनुष्य अन्याय और अत्याचार, दमन और उत्पीड़न, शोषण और दोहन करनेमें जरा भी नहीं शर्माता ।

× × ×

किसीको अपने कुलका, जातिका मद होता है ।

वह अपनी कुलीनतामें ही ऐंठा फिरता है ।

वह मानता है कि मैं ही सबसे ऊँचा, मैं ही सबसे कुलीन, मैं ही सबसे श्रेष्ठ हूँ । दुनियामें और जितने लोग हैं, वे सब मुझसे नीचे हैं, नगण्य हैं, हेय हैं, निकृष्ट हैं ।

ऐसा व्यक्ति दूसरोंका तिरस्कार और अपमान करनेमें सुखका बोध करता है । दूसरोंकी निन्दा करनेमें उसे मजा आता है । दूसरोंसे अपने पैर पुजवाकर वह प्रसन्न होता है । उसका रोम-रोम पुकारता है—'धन्य मैं, धन्य मेरा कुल, धन्य मेरी जाति !'

यह 'कुलीन' पुरुष अपनी शादीमें, अपने भाई-भतीजोंकी शादीमें बेटीवालोंको नाकों चने चबवाता है । पर अपने घर यदि बेटी पैदा हो जाती है तो कोशिश यही करता है कि वह प्रसूतागारसे ही जीवित न निकल सके ! कहाँ ले जायगा उसे शादीके लिये !

× × ×

कुलीनताके मदमें चूर व्यक्ति या तो किसीके घर खायगा नहीं, खायगा भी तो हजार नखरे करके । दूसरोंसे मिलनेमें वह परहेज करेगा । दूसरोंको छूनेमें परहेज करेगा । किसीकी

भी चर्चा करेगा तो अपनी कुलीनताका डंका पीटनेमें कभी न चूकेगा।

दूसरे लोग भी मनुष्य हैं, वे भी अमृतपुत्र हैं, वे भी भगवान्‌को प्यारे हैं, उन्होंने भी मानव-शरीर पाया है, वे भी आदर, सम्मान और श्रद्धाके पात्र हो सकते हैं—इस बातको कुलीनताका अभिमानी व्यक्ति कभी स्वीकार नहीं करता।

वह सबको अपनेसे नीचा मानता है, सबको अपनेसे गिरा हुआ मानता है।

इस श्रेणीके कारनामोंका ही नतीजा है—मनुष्यसे मनुष्यकी घृणा।

× × ×

किसीको अपने शरीरका मद होता है।

चलता है तो मूँछोंपर ताव देता हुआ।

जब होगा अपनी भुजाओंको निरखता रहेगा।

स्वस्थ शरीर एक नियामत है, पर उसका मद होना बुरी बात है। जिस व्यक्तिको शरीरका मद होता है, वह भले ही पहलवान न हो, पर वह अपनेको शेर मानता है, दूसरोंको भुनगा। इस मदमें पड़कर जब-तब वह अभद्रतापर भी उतर आता है और दूसरोंके प्रति ऐसा अनुचित और अभद्र व्यवहार कर बैठता है कि तटस्थ होकर सोचे तो वह स्वयं ही लज्जासे गड़ जाय।

× × ×

बल, शक्ति और सौन्दर्यका मद तो विश्वविख्यात है।

'किती न अवगुन जग करत नैवें चढ़ती बार।'

यौवनका मद, जवानीका मद, रूपका मद—कितने अनर्थ नहीं करता!

सब जानते हैं उसकी असलियतको।

× × ×

दो पैड देखे हैं मैंने।

एक पैड था एक डाक्टरका, दूसरा था एक कवि महोदयका।

डाक्टर साहबके पैडमें पैडके चौथाई अंशमें उनकी डिग्रियाँ भरी पड़ी थीं और लिखा था कि किस संस्थाके वे अध्यक्ष हैं, किसके मन्त्री, किसके सदस्य। इतना ही नहीं, यह भी छपा था कि कहाँ-कहाँ किस-किस संस्थामें वे क्या-क्या रह चुके हैं।

'महाकाव्यकार'ने तो ड्योढ़े फुलस्केप साइजके पैडमें उन सब दैनिक, साप्ताहिक, मासिक पत्रोंकी पूरी सूची ही छपवा डाली थी, जिनमें एक बार भी उनकी तुकबंदी छप गयी है। उन्होंने यह भी छपवा डाला है कि कौन-कौन कवि उनके शुभचिन्तक हैं और किस-किसने उन्हें आशीर्वाद भेजा है।

नमक सुलेमानी और सुरमा बालूशाहका बेचनेवाले लोग जिस तरह उसका चोगा पहनकर अपना विज्ञापन करते हैं, ऐसे लोग भी अपनी डिग्रियोंका, अपनी विशेषताओंका, अपनी प्रतिभाओंका, अपनी विद्याका, अपनी बुद्धिका, अपनी कारगुजारियोंका इसी तरह विज्ञापन करते हैं और खुश होते रहते हैं कि वाह, मैंने कैसा शेर मारा है! मेरे बराबर दूसरा कौन है?

विद्या, बुद्धि, प्रतिभा, योग्यताका मद!

× × ×

कोई सीनेपर तमगा लटकाये घूमता है, कोई पुरस्कारमें मिले शाल-दुशालोंकी प्रदर्शनी करता है कि मैं कितना लायक हूँ।

अभी-अभी एक 'पद्मश्री'की बैठकमें जानेका मौका मिला। देखा बैठकके ऊपर पद्मश्रीका सर्टीफिकेट लटक रहा है शीशेमें मढ़ा हुआ और उसीके बगलमें है श्रीमान् पद्मश्रीकी तस्वीर—राष्ट्रपतिके साथ!

और यहीं मुझे याद पड़ते हैं 'अकबर इलाहाबादी'। जो बेचारे परेशान होकर कह रहे हैं—

'लोग कहते हैं कि हैं आप निहायत काबिल!

मैं इसी सोचमें रहता हूँ कि मैं किस काबिल हूँ!!'

× × ×

महासती सावित्री

(लेखक—श्रीकृष्णगोपालजी माथुर)

[गताङ्क पृष्ठ ११२५ से आगे]

यमराज इस बार बड़ी तेज चालसे चले; क्योंकि वे चाहते थे कि सावित्रीको मार्गमें किसी प्रकार कहीं भी छोड़ जायँ । और मनमें भी भारी चिन्ता थी कि आज न जाने क्या उपद्रव होगा । यमराज जितने कौशलसे तेज चल सकते थे, उतने कौशलसे चलने लगे । अन्तमें यमपुरीके निकट पहुँचकर उन्होंने फिर एक बार इस विचारसे पीछे देखा कि कहीं सावित्री अब भी मेरे पीछे-पीछे तो नहीं आ रही है ! परंतु वास्तवमें देखा बड़ा ही अद्भुत दृश्य ! वहाँ भी सावित्री वैसे ही धीर, गम्भीर और दृढ़-प्रतिज्ञ भावसे उनके पीछे थी ।

'अब क्या करें ! यह स्थान अन्तिम स्थान है । अब विधाताका लेख नहीं चल सकेगा, सत्यवान्को हाथसे छोड़ना ही पड़ेगा । अन्यथा, जीव सशरीर मृतपुरीमें प्रवेश करके सनातन प्रथाको पलट देगा ।' अब यमराज किस ओरकी रक्षा करें । किस बातको रक्खें, किसे छोड़ें ! यह बात यमराज ठीक-ठीक न सोच सके । भ्रममें पड़कर उच्च स्वरसे बोले—'सावित्री ! सावित्री !! यह क्या कर रही हो ? इधर कहाँ आ रही हो ? देखो तो तुम किस भयंकर स्थानमें आ पहुँची हो ! अब आगे मत बढ़ो । यह स्थान ही आखिरी मुकाम है । यही जीवोंकी अन्तिम सीमा है । इस सीमाका उल्लङ्घन मत करो । विधाताकी मर्यादाकी रक्षा करके इस नदीको पार मत करो । धर्मके लिये हे धर्ममयी ! आत्म-विसर्जन करो !'

सावित्रीने पहलेकी तरह धीरभावसे उत्तर दिया—'धर्मराज ! धर्मके हेतु मैं आत्मविसर्जन कर सकती हूँ; किंतु धर्मके लिये धर्मको नहीं छोड़ सकती । प्रभो ! सती-धर्मके ऊपर कोई धर्म नहीं है और न कोई उससे ऊपर रक्षणीय वस्तु है । पर मैं देखती हूँ कि वह सती-धर्म इस समय आपके विधानसे गौरवहीन हो रहा है; क्योंकि आपने ही मुझे वर देकर स्वामीके औरसजात सौ पुत्रोंकी अधिकारिणी बनाया है और आप ही मेरे उन स्वामीको ले जा रहे हैं तो स्वामीको ले जानेपर आपका यह वर कैसे सफल होगा ? और सफल न होनेपर मेरे गौरवकी रक्षा कैसे होगी ?'

ओहो, बड़े आश्चर्यकी बात ! सुनकर यमराज भयभीत हो गये । ऐसा क्यों हुआ ! वे तो धर्मराज हैं न ? फिर कहाँ उनके प्रज्ञाचक्षु ! कहाँ दिव्यज्ञान ! कहाँ अपूर्व दैवी दृष्टि ! वे तो इन सब गुणोंको भूलकर एक घड़ीके लिये अपनेको मोहजालमें फँसा देखने लगे । उस विशाल और मायाबद्ध वैतरणी नदीके तटपर आकर भी यमराज दूसरा मार्ग ढूँढ़ने लगे, पर ढूँढ़नेपर भी कोई मार्ग न पा सके ।

एक बार फिर उन्होंने विस्मयभरे नेत्रोंसे सावित्रीकी ओर देखा । क्या ही महिमामयी बालिका है ! क्या ही तेजोमयी मूर्ति है ! मानव क्या इतने तेजस्वी होते हैं ! यह तो चाँदनीके समान निर्मल, जलधिके समान गम्भीर ज्ञानसम्पन्न, हिमाचलके समान स्थिर, शरद्के आकाशके समान विमल एवं कलंकशून्य है । अपनी ज्योतिमें यह आप ही प्रकाशित है, अपने गौरवमें आप ही नत है, धर्म-बलसे विश्वविजयिनी है ! यह नारीरूपिणी कौन है ? धर्मराजको आज यह कौन धर्मकी शिक्षा दे रहा है ?

धर्मराज कह उठे—'पुत्री ! यह क्या कह रही हो ? यह तो नियतिकी गति है, इसे भला कौन रोक सकता है ?'

सावित्रीने उसी प्रकार धीर और गम्भीरभावसे उत्तर दिया—'क्यों नहीं रोक सकता है धर्मराज ? कर्म-फल ही भाग्यकी सृष्टि करता और कर्मफल ही भाग्यका विनाश करता है । इसी कर्म-फलसे पाया हुआ भाग्य नियति है । मनुष्य अपने-अपने कर्मसे ही यह नियति बना लेते हैं और फिर अपने कर्मसे ही उसे बिगाड़ डालते हैं । यही जगत्का नियम है, यही सृष्टिका रहस्य है । धर्मावतार ! मोहमें आकर आज आप इस सृष्टि-रहस्यको न भूलें । देखिये, कर्मफलसे ही मेरे माता-पिता अबतक पुत्रहीन थे और मेरे ससुर अंधे तथा राज्यच्युत थे; किंतु अब इसी कर्मफलके प्रभावसे उनके भाग्यका परिवर्तन हो गया है; क्योंकि आज आपने ही वर देकर उन्हें उस भाग्यसे मुक्त कर दिया है । तो भी देखिये, आपने आज उन्हें अपनी इच्छासे ही मुक्त नहीं किया है, बल्कि उनके कर्मफलने ही आपको बाध्य करके मुक्ति दिलायी है । जगत् इसी प्रकार चलता रहता है । अतएव

हे धर्मराज! मेरा भाग्य भी आज इसी भाँति परिवर्तित होगा। कर्मफलसे ही सत्यवान् आज आपके हाथमें है—कर्मफलसे ही आज मैं पतिधनसे वञ्चित हूँ; परंतु इसी कर्मफलसे फिर मैं इस धनकी अधिकारिणी बनूँगी। मेरी कठोर साधना ही आपको मुझपर फिर प्रसन्न करेगी; मुझे फिर पति मिलेंगे, मैं पुत्रवती होऊँगी। समझे आप? अब धर्मराज प्रभो! कहिये, इस अभागिनीका कर्मफल-विनाश और कितना शेष है? यदि समाप्त हो गया हो तो दया करके दासीको अपना स्वामी लौटा दीजिये। समाप्त न हुआ हो तो और आगे बढ़िये। मैं आपकी अपूर्व पुरीमें पहुँचकर आपके सुन्दर आसनके नीचे बैठी हुई और भी अनन्तकालतक साधन करूँगी; किंतु पतिविहीना होकर इस जीवनमें घर नहीं लौटूँगी।'

इतना कहकर सावित्री चुप हो गयी। यम बोले—'बेटी! इसकी तुमको आवश्यकता नहीं है। मैं अबतक किसी अज्ञानके विषम अन्धकारसे अपनेको भूलकर एक मोह-जालमें फँसा हुआ था। जानता नहीं था कि कोई तुम-सरीखी कृपामयी सती आज मुझे सदाके लिये इस मोहके स्वप्नसे जगा देगी। पुत्री! यह लो तुम्हारे स्वामीका जीवन, और साथ ही मेरे मङ्गल आशीर्वाद! मेरे वरसे—मेरे आशीर्वादसे पूरे चार सौ वर्षतक इस जरा-रोगपीड़ित मर्त्यधाममें तुम सुखका राज्य स्थापन करके फिर अपूर्व शान्ति प्राप्त करना। तुम्हारे आदर्श, तुम्हारी पवित्रता और तुम्हारी शिक्षासे जगत्‌के सब लोग देवभावसे अनुप्राणित हों।'

यह कहकर यमराजने सत्यवान्‌का वह पाशबद्ध अङ्गुष्ठ-परिमित सूक्ष्म शरीर बाहर निकालकर सावित्रीको दे दिया। उस समय सावित्रीने सुन्दर प्रतिभा-मण्डित विश्वविजयिनी शक्ति-मूर्ति परित्याग कर एक मुहूर्त्तके लिये लज्जा-विनय-युक्त कमनीय रमणीमूर्ति धारण कर ली। मेघ-मुक्त आकाशके समान एक अपूर्व प्रफुल्लताका भाव उसके उद्वेग-मलिन नेत्रों एवं कपोलोंपर छा गया। सावित्री घुटने टेककर धर्मराज-के सामने बैठ गयी और दोनों हाथ पसारकर उसने मङ्गल आशीर्वाद और उस दुर्लभ उत्तम पुरुषको आदरके साथ ले लिया। उसी समय जगत्‌की कोटि-कोटि युगोंकी प्रचलित प्रथाका परिवर्तन हो गया! जो अबतक किसीने नहीं किया था और न कोई आगे कर सकेगा, उसी सतीत्वकी महिमा-का अद्भुत चमत्कार जगत्‌में एक ही बार संघटित हुआ! विश्वके मानवोंने भी समझा और देवता भी समझ गये कि सतीत्वसे बढ़कर और कोई धर्म नहीं है, सतीके ऊपर और कोई शक्तिशालिनी नहीं है, सतीत्वके समान दूसरी कोई पवित्र वस्तु नहीं है! इसी सतीत्वके तेजसे एक बार दक्षके घरमें भी प्रलयकी सृष्टि हुई थी और एक बार फिर यह विश्व-प्रथाका परिवर्तन हो गया। धर्मराजको भी एक नूतन शिक्षा मिली! जगत्‌की सारी शक्तियोंके ऊपर उस समय सतीधर्मका एक परमोज्ज्वल आसन स्थापित हो गया।

सावित्रीको सत्यवान्‌का जीवन देकर यमराज चले गये। सावित्री पुनः सत्यवान्‌के पास लौट आयी। इस लोकके साथ परलोकका क्या सम्बन्ध है, यह बात सावित्री नहीं जानती थी। वह तो केवल यमराजके पीछे-पीछे बहुत दूरतक चली गयी थी। ज्ञात होता है, पृथ्वीकी सीमाका भी उल्लङ्घन कर गयी थी; किंतु थोड़ी देर बाद अनायास ही वह फिर अपने स्थानपर लौट भी आयी। पर इसके पहलेकी स्थितिका थोड़ा-थोड़ा सामना उसे करना पड़ा। जानेके समय तो वह यमराजके पीछे-पीछे चली गयी थी और पीछे-पीछे चलनेमें दूर देशका मार्ग भी पहचान लिया था; परंतु लौटनेके समय सावित्री यह ठीक-ठीक मालूम न कर सकी कि किस प्रकार लौटूँ? अतः धर्मराजके चले जानेपर सावित्री एक घड़ीतक सब ज्ञानोंको भूली रही। कहाँ है, क्या करती है, कहाँ जायगी, यह कुछ भी उसे मालूम न हो सका। सुननेकी शक्ति, देखनेकी शक्ति, स्पर्श-शक्ति सभी मानो वह खो चुकी; किंतु एक घड़ीके बाद ही फिर उसे चेतना प्राप्त हुई। सावित्री पुनः अपनेको जान सकी—बाहरी प्रकृतिका अनुभव कर सकी। देख सकी, सुन सकी और स्पर्शका अनुभव कर सकी। इस प्रकार नवजीवन पाकर सावित्रीने देखा कि वह उसी घोर वनमें स्वामीकी देहको गोदमें लिये वैसे ही भावसे बैठी है। उस समय खुले हुए गगन-मण्डलके नक्षत्रोंकी माला विलीन होती जाती थी, सावित्री देखते-देखते कुछ कम्पित हो उठी।

सावित्री जब सावधान हुई, तब उसने सत्यवान्‌की ओर देखा। उस समय सत्यवान्‌के निश्वास-प्रश्वास पुनः आने लग गये थे। अङ्ग-प्रत्यङ्ग कुछ-कुछ कम्पित हो रहे थे। रक्त-गति पुनः आरम्भ हो गयी थी। सावित्रीको मालूम हुआ कि मानो सत्यवान् अब भी सो रहे हैं, फिर सावित्रीने आनन्दके वेगमें कण्ठको मिलाकर आवेगपूर्ण कण्ठसे पुकारा—'प्रियतम! प्रियतम!!'

सत्यवान् थोड़ी देर आलस्य मोड़नेके बाद आँखें मलते हुए देखने लगा। देखकर एकाएक उठने लगा; पर उठ न सका—गिर पड़ा। फिर चेष्टा की। इस बार वह जमीन-पर हाथ टेककर आश्चर्यभावसे सावित्रीकी ओर देखने लगा, मानो कोई गहरा स्वप्न देखकर उठा हो और अब भी स्वप्न-सा देख रहा हो। ऐसी स्थितिमें वह जाग्रत् होनेका हाल भी ठीक-ठीक नहीं जान सका।

बहुत देरतक इसी दशामें रहनेके बाद सत्यवान्‌ने अचरजभरे भावसे सावित्रीकी ओर निहारते हुए कहा—'सावित्री, हम यहाँ क्यों?' सावित्री बोली—'प्रियतम! आप और मैं लकड़ी काटनेको यहाँ आये थे, तबसे यहीं हैं। लकड़ी काटते-काटते आपके सिरमें दर्द हुआ और आप मूर्छित होकर गिर पड़े। बादको धीरे-धीरे रात बहुत हो गयी। तभीसे मैं आपको लिये हुए यहाँ बैठी हूँ। अब कहिये, आपको कैसा लग रहा है?'

सत्यवान्‌ने कहा—'हूँ, ज्ञात होता है, मुझे बड़ी गहरी नींद आयी थी। ऐसी गहरी नींद मुझे कभी नहीं आयी। अब भी मेरा शरीर वशमें नहीं है। मैंने नींदमें एक विकट स्वप्न देखा था। श्यामवर्ण एक दीर्घ पुरुष, जिनका शरीर अपूर्व दीप्तिमान् था, जो लाल वस्त्र पहने थे और मस्तकपर मुकुट धारण किये हुए थे, मुझे मानो खींचते-खींचते न जाने कहाँ ले जा रहे थे और तुम मानो उनके पीछे-पीछे हाथ जोड़े हुए जा रही थीं! बताओ सावित्री! यह क्या अद्भुत स्वप्न था?'

सावित्री बोली—'प्रियतम! जो हो गया है, उसका विचार करनेसे क्या प्रयोजन है। जो करना है, अब उसीकी बात सोचनी चाहिये। देखिये, रात बहुत चली गयी है, चारो ओर अन्धकार-ही-अन्धकार दिखायी दे रहा है। मार्गका चिह्न भी नहीं दीख पड़ता। माता-पिता हमारी चिन्तासे व्याकुल होंगे। कहिये, अब क्या करें?'

सत्यवान्‌ने कहा—'सच बात है। मैं भी यही सोच रहा हूँ। सावित्री! चलो, हम बहुत शीघ्र आश्रमकी ओर चलें। माता-पिताके लिये मेरा मन चञ्चल हो रहा है।'

सत्यवान्‌ने उठनेकी चेष्टा की, पर उससे भली-भाँति खड़ा नहीं हुआ जा सका, सावित्रीके सहारेसे वह खड़ा हुआ। उसके शरीरकी ऐसी हालत देखकर सावित्रीने कहा—'प्रियतम! आपका शरीर बड़ा दुर्बल है, मुझे आशङ्का होती है कि आप मार्गमें नहीं चल सकेंगे, आपको कष्ट होगा। यदि आज्ञा हो तो आज यहीं ठहर जायँ। कल प्रातःकाल होते ही मैं आपको ले चलूँगी।'

सत्यवान् बोला—'नहीं, सावित्री! नहीं! माता-पिता मुझे एक घड़ी भी नहीं देखते तो घबरा जाते हैं। एक दिन मुझे असमयमें आश्रमके बाहर गया जानकर व्याकुल हो उठे थे। संध्याके बाद मुझे वे प्रायः बाहर नहीं निकलने देते। आज इतनी राततक बाहर रहा हूँ; न जाने वे क्या चिन्ता कर रहे होंगे, कितना कष्ट पा रहे होंगे। सावित्री! चलो; जितनी जल्दी हो सके, आश्रमको चलें।'

सावित्रीने सत्यवान्‌को समझानेकी चेष्टा करते हुए कहा—'प्राणनाथ! मैंने कभी जान-बूझकर अधर्म नहीं किया, आपके मुखको छोड़कर दूसरेका ख्यालतक नहीं किया; फिर आप इतने चिन्तित क्यों हो रहे हैं? क्या मेरे दान, धर्म और होम यज्ञादिके फलसे यह रात मेरे सास-ससुरके लिये शुभ न होगी? अवश्य होगी? अनुमति दें कि हम आज यहीं निवास करें। कल आपका शरीर स्वस्थ होनेपर मैं आपको ले चलूँगी और वहाँ सब बातें कहूँगी।'

किंतु सावित्रीकी बातोंसे मातृ-पितृ-भक्त सत्यवान्‌का उद्वेग दूर न हुआ। उसने बहुत ही व्याकुल होकर कहा—'सावित्री! मेरे माता-पिता मुझे देखे बिना नहीं बचेंगे और यदि ऐसा हुआ तो निश्चय जानो, मैं भी जीवित न रह सकूँगा। अतः मेरा भला चाहती हो तो अब घड़ीभर भी विलम्ब न करो—शीघ्र ही आश्रमको चलो। मैं अब घड़ीभर भी यहाँ नहीं रह सकता।'

सावित्री और कुछ न बोली। उसे यह बात सोचकर बड़ा कष्ट हुआ कि सत्यवान् मुझे ही अपने दुःखका कारण समझ रहे हैं। पर उसके लिये पतिकी आज्ञाका पालन करना आवश्यक था। अतः वह वस्त्रोंको समेट, केशोंको बाँध, शरीरकी सब शक्ति लगाकर स्वामीको आश्रमपर ले जाने लगी। एक कोमल नारी, तीन दिनकी उपवासी, उसपर भी कठोर मानसिक एवं शारीरिक परिश्रम किये हुए। कैसी कठिन समस्या है। तो भी सावित्री प्राणपणसे सत्यवान्‌को आरामसे ले जाने लगी। उसने स्वामीका कुठार अपने हाथमें ले लिया, फल और जलानेके काष्ठ साथ ले लिये; पतिदेवको चलनेमें जरा भी कष्ट न हो, इसका पूरा ध्यान रखा। सावित्री व्रत-उपवासके कारण स्वयं दुर्बल थी, पर इसकी

परवा न करके उसने अपनी सारी शक्ति पतिदेवको सुखसे ले जानेमें लगा दी। इस प्रकार देवी-समाना सावित्री विश्व-भार-वाहिनी शक्तिके तुल्य उस अँधेरे मार्गमें प्रकाश करती हुई जाने लगी। सत्यवान् उसके कंधेके सहारे-सहारे चलने लगा।

उपसंहार

सावित्रीको अपने पति सत्यवान् प्राप्त हो गये। यमराजको हार माननी पड़ी। अब हमें विशेष कुछ नहीं कहना है। अन्ध मुनि और उनकी पत्नी व्याकुल होकर सावित्री और सत्यवान्‌को ढूँढ रहे थे। ढूँढते-ढूँढते प्रातःकाल हो आया था। वनके ऋषि-मुनि और उनकी पत्नियाँ भी खोज करनेमें लगे थे। सत्यवान्‌के माता-पिताकी व्याकुलताका ठिकाना नहीं था। ऋषि-मुनि उनको नाना प्रकारके उपदेशोंसे समझा रहे थे। इसी समय सावित्री और सत्यवान्‌ने जाकर उनको प्रणाम किया। वृद्ध दम्पति उनको पाकर अत्यन्त प्रसन्न हुए और आशीर्वाद-पर-आशीर्वाद देते हुए अनेक बातें पूछने लगे। अन्ध मुनिके नेत्र यमराजके वरसे पहले ही ज्योतिष्मान् हो गये थे। इसलिये अब पुत्र और पुत्र-वधूको देखकर उन्होंने अपने नेत्रोंको खूब तृप्त किया। अहा, कितने ही दिनोंसे उन्होंने अपने प्राण-प्यारे पुत्रका मुख नहीं देखा था। अब पुत्रका मुख देखकर उन्हें इतना सुख मिला, जो लिखनेमें नहीं आ सकता।

दूसरे दिन शाल्व देशसे शुभ संवाद लेकर दूत आया। संवाद बड़ा आनन्ददायी और आश्चर्यपूर्ण था। 'द्युमत्सेनके शत्रु पराजित हो गये हैं, शत्रुको हराकर सेनापतिने राज्यपर अधिकार कर लिया है। अब द्युमत्सेनको जाकर फिर राज्य करना होगा। बड़ा ही आनन्ददायक संवाद है। यह संवाद शीतल समीरके समान समस्त वनमें फैल गया। वनवासी तपस्वियोंने बड़े हर्षके साथ वृद्ध राजा और रानीको मङ्गला-चरण करते हुए राज-वेशसे विभूषित किया।

सुखके दिन अकेले नहीं आते। उसी दिन मद्रदेशसे अश्वपति भी अपनी पुत्रीको देखने आये; क्योंकि अश्वपति विधि-विधानकी बात जानते थे। अब आकर उन्होंने पुत्रीसे वही बात पूछी। सावित्रीने अभीतक यह अद्भुत कहानी किसीसे भी नहीं कही थी; पर अब पितासे वह उसे छिपा न सकी, स्पष्ट सब बातें कह दीं। सुनकर सभी लोग सावित्रीको धन्य-धन्य कहने लगे।

सावित्रीके सास-ससुर यह अपूर्व कहानी सुनकर गद्गद कण्ठसे गुणवती बहूको अनेक आशीर्वाद देने लगे। सत्यवान् भी अपनेको बड़ा ही भाग्यवान् समझने लगा। ऋषि-मुनियोंने यह सब सुना। सुनकर वे चारो ओरसे आ-आकर सावित्रीकी मुक्तकण्ठसे प्रशंसा करने लगे। देश-विदेशमें महासती सावित्रीका नाम धन्य-धन्य हो गया।

पाठक-पाठिकाएँ! आइये, आज हम इस चरित्रकी समाप्तिपर एक बार सावित्रीको अपने बीच आह्वान करें।

युद्ध जय करके वीर आते हैं तो हम उन्हें पुष्पमालासे विभूषित करते हैं; देश जीतकर राजा आते हैं तो हम उन्हें विजय-दुन्दुभि बजाकर सम्मानित करते हैं; हिंदुओंके घर देवता आते हैं तो वे उनकी मङ्गल-सूचक शङ्ख बजाकर अर्चना करते हैं। किंतु सावित्री आज धर्मराजको जीतकर हमारे निकट आयी है; कहिये, आज हम किस सामग्रीसे उसकी पूजा करें? आओ, सावित्री! आओ। जो शिक्षा और दीक्षा लेकर तुम जगत्‌में आयी हो, आज हम उसी शिक्षा और दीक्षासे अपनेको पवित्र करते हुए तुम्हारे चरणोंमें पुष्पाञ्जलि अर्पण कर रहे हैं। महासती! तुम्हारे इस आदर्शसे, तुम्हारी इस शिक्षासे, तुम्हारे सतीत्वके प्रभावसे आज हमारे दुर्बल भारतकी ललनाओंके मुख उज्ज्वल हों और वे भी तुम्हारी-जैसी अपूर्व तेजःशालिनी बनकर भारतका उद्धार करनेमें सहायक हों—यही हमारी जगन्नियन्ता जगदीश्वरसे नतमस्तक होकर प्रार्थना है। (समाप्त)

श्याम-विरहीकी दशा

दिन नहिं चैन, रैन नहिं निद्रा, भूख-प्यासका भान नहीं।
हियमें जलती आग अमित, पर उसका भी कुछ ज्ञान नहीं॥
रोती आँखें नित्य, बरसता रहता नित्य नेहका मेह।
याद नहीं, फरियाद नहीं कुछ, तेज-उज्ज्वलित जर्जरदेह॥

रोग, ऋण और शत्रु—इनसे फौरन निपटिये

(लेखक—श्रीविश्वामित्रजी वर्मा)

[आधुनिक वैज्ञानिक संस्कृतिने संसारके सब देशोंको एक सूत्रमें पिरो दिया है और हम भारतीय इस वैज्ञानिक अन्धानुकरणसे अपनी सजीव सम्पत्ति—मानव और भूमिकी उपजको विकृतकर पश्चिमकी भाँति विकासके नामपर क्या विनाशकी ओर नहीं जा रहे हैं ?]

क्या आपने कभी ८४ फुट लंबा और १४ फुट ऊँचा जानवर देखा है ? बीस करोड़ वर्ष पहले पृथ्वीपर यह *जानवर था, परंतु यह कई करोड़ वर्षोंसे निर्वंश और लुप्त हो चुका है। मनुष्यने सभ्यताका विकास करनेके साथ ऐसे बहुतेरे जानवरोंको निर्वंश और नष्ट कर दिया है। दस या पाँच हजार वर्ष पूर्वकी भाषा, रहन-सहन, विचारधारा आज तब-जैसी न होकर बहुत बदली हुई है। आज जो है, वह कबतक रहेगी—कोई नहीं कह सकता। मानवकी भाषा, विज्ञान, संस्कारोंमें गत पचीस वर्षोंमें कैसा क्रान्तिकारी परिवर्तन हुआ है—यह आँखोंके सामने है। पुरानी शासन और कृषि-उद्योग, एवं व्यापारकी पद्धति, †एकच्छत्र शासन और ‡सामन्तशाही दुनियाँके बहुतेरे देशोंसे उठ चुकी है और अब नवीन वैज्ञानिक प्रयोगों तथा जनतन्त्री सिद्धान्तोंपर वे उतर आये हैं। पूँजीवाद और साम्राज्यवादकी यह व्यवस्था अब पुरानी होकर बदनाम हो चली है। रूढ़िवादका ढकोसला अब समाजवाद और विकासवादकी नयी टहनियाँ और पत्ते लेकर नव वसन्तकी तरह लहलहाता है। शुद्ध सात्त्विक भोजन और संयमित जीवनचर्या, प्राचीन आयुर्वेद, पुराने जमानेकी लंबी उम्र और 'वज्राङ्गी' स्वास्थ्य भी अब नहीं रहा। किसी जमानेमें जब 'ताला'का आविष्कार भी नहीं हुआ था, लोग घरोंमें ताला क्या लगाते ? वह ईमानदारी अब केवल कहानी रह गयी है। अब ताला लगानेपर भी तिजोरी तोड़ ली जाती है और उन्हीं ईमानदारोंके वंशज अब जेबें काट लेते हैं। कूटनीति और तर्कवादसे परस्परके झगड़ोंके निपटारे सरकारी कानून और अदालतोंद्वारा होते हैं जहाँ अब चाँदी-सोने तो नहीं, कागजकी रंगीन कीमती छपी सरकारी हुंडियों×से न्याय अपने पक्षमें खरीदनेकी होड़ लगती है।

* डिप्लोडोकस Diplodocus
† Autocracy
‡ Aristocracy.
× Currency notes

इस सृष्टिके विधानमें हरेक वस्तु और व्यवस्थाकी आयु होती है। विकास-क्रमसे सभी वृद्ध, जीर्ण और अनुपयोगी हो जाती हैं। उनका त्याग होना स्वाभाविक है।

ऐसे पतित और विनाशगामी मानवकी इन्द्रिय-लोलुप आदतोंसे उत्पन्न रोगोंको दूर करने और उसे स्वास्थ्य तथा दीर्घायु प्राप्त करानेके लिये वैज्ञानिकोंने जिस आधुनिक हिंसक और घृणित डॉक्टरशाहीका गोरख-धंधा अथवा इन्द्रजाल मूर्ख मानवसमाजपर कानूनकी आड़ लेकर फैलाया है, क्या उसका भी कभी अन्त होगा ? संसारकी लगातार बेतादाद बढ़नेवाली आबादीके लिये भोजन और स्थानकी समस्या सुलझानेके निमित्त *लौह-वृषभोंसे शीघ्रगामी और गहरी जुताई तथा † रासायनिक खेती और सामाजिक खेतीकी वृद्धि रोकनेके लिये यान्त्रिक ‡ परिवार-नियोजन करके इन्द्रियानन्द कायम रखनेके जो व्यभिचारी रासायनिक साधनसम्यता और विज्ञानके नामपर फैलाये जा रहे हैं, क्या कभी इनका अन्त होगा ?

हर एक प्राणीका अपना गुण और स्वभाव होता है। मनुष्येतर सभी प्राणियोंमें उनके गुण-स्वभाव वंश-परम्परागत प्रकृतिसे हमेशासे अब भी मौजूद हैं, किंतु मनुष्यकी मानवता बहुत कुछ नष्ट हो चुकी है। पहले-जैसा मनुष्योचित आचार-विचार, आकार न होकर अब अनेक प्रकारके इन्द्रियलोलुप भक्षण, व्यसन, रसायन-सेवन और जीवनचर्यासे उसकी वर्तमान पीढ़ीमें अनेक रोग और दुर्बलताएँ आ गयी हैं।

पुराने समयमें शरीरकी जरावस्थामें दाँत गिरते थे और आँखोंपर ऐनक चढ़ते थे, वह सब अब बचपनमें ही होने लगा है। गाँवोंमें अब भी नहीं, परंतु शहरोंमें, शालाओंमें बालक-बालिकाओंकी नाकोंपर यह आभूषण बहुत देखनेको मिलता है। मधुमेह, हृदयरोग, पक्षाघात—जो बूढ़ोंको ऐन्द्रिक निर्बलता या थकानके कारण पहले हुआ करते थे, अब बच्चोंको होने लगे हैं; यहाँतक कि कतिपय सद्योजात बच्चोंके फेफड़े-हृदय कमजोर मालूम होनेपर जन्मके दूसरे दिन ही उन्हें यान्त्रिक विधिसे सहायक§ प्राणवायु दी जाने लगी है।

* Tractors
† Chemical Agriculture ‡ Family Planning, Birth Control
§ Oxygen

मृतवत् मृत्युशय्यापर पड़े जीर्ण, श्मशानाभिमुखी दादा-नानाको कुछ क्षण जीवित रखनेके लिये जो प्रयत्न होते थे, वे ही प्रयत्न अब सद्योजात बच्चोंपर किये जाने लगे हैं। यही देख-समझकर अमेरिकाके डॉक्टर मेलविल कीथ एम. डी. ने अपनी पुस्तक *'नरक जानेका शानदार रास्ता' में बहुत वर्षों पूर्व लिख दिया था कि 'इस दुनियामें कुछ सौ वर्षों बाद अंधे, अपंग, नपुंसक, निर्बुद्धि और पागल लोग होंगे।'

वायु, जल, अन्न, साग, फल, मधु, दूध—ये हमें प्रकृतिसे शुद्ध रूपमें भोजन एवं पोषणके लिये प्राप्त होते हैं; परंतु वैज्ञानिक मानवने इन्हें अपनी बुद्धिसे रासायनिक विषाक्त तत्त्वोंके सम्मिश्रणसे बहुत विकृत और विषाक्त कर दिया है। इन्हीं करतूतोंके फलस्वरूप उसे सब उत्पात भोगने पड़ रहे हैं। हवामें उड़नेवाले हवाईजहाज, रॉकेट, भूमिपर तीव्रगामी मोटरों तथा रासायनिक कारखानोंसे निकलनेवाली दुर्गन्धित और अग्राह्य वायु तथा मनुष्यों और स्त्रियोंके भी ओठोंमें शोभा देनेवाली सभ्यतासूचक बीड़ी-सिगरेटके जूँठे धुएँ निर्व्यसनी जनताके श्वासमें अनिच्छासे घुसते हैं। बड़े-बड़े शहरोंमें जलप्रदायोंद्वारा घर-घर मिलनेवाले पानियोंके गन्ध-स्वादमें भिन्नता पायी जाती है। जलको दूषित मानकर उसके कीटाणुओंको मारकर जलको नीरोगी बनानेके लिये रासायनिक मिश्रण या जल-शोधनकी जो क्रियाएँ की जाती हैं, उनके फलस्वरूप जलको वैज्ञानिक दृष्टिसे तो निर्गन्ध और स्वादरहित होना चाहिये; फिर गन्ध-स्वादमें विषमता क्यों? और यह भी सबको अनिच्छासे जबर्दस्ती पीना पड़ता है।

वायु-जलके बाद अब खाद्य पदार्थोंको तो जड़-मूलसे दूषित करनेकी प्रथा विश्वव्यापिनी हो रही है। भूमिमें रासायनिक खाद मिश्रितकर भूमितत्त्वोंको उत्तेजितकर अधिक खाद्यान्न-साग-फल उपजानेके प्रयत्नसे होनेवाली इस रासायनिक व्यसनोत्तेजनाके फलस्वरूप, भूतत्त्व भी निस्तेज और वसुन्धरा वन्ध्या होने लगी है। उत्तेजक व्यसनोंसे मानव भी तो निस्तेज, निर्बल होता जाता है। अमेरिकामें ऐसी रासायनिक प्रक्रियासे १०५ करोड़ एकड़ कृषि और चरागाहकी भूमि बरबाद हो चुकी है। फिर भी वैज्ञानिक अन्धानुकरणद्वारा भारतमें इसका सरकारी प्रचार किया जा रहा है। यह सब औद्योगिक स्वार्थी तत्त्वोंकी प्रेरणामात्रसे हो रहा है; इससे देशका भविष्य कितना अन्धकारमय हो जायगा, यह तो आगेकी पीढ़ीको मालूम होगा।

* Royal Road to Hell.

परंतु हमारे सामने पश्चिमके ये विनाशकारी अनुभव मौजूद हैं।

लगभग दो वर्ष पूर्व, इंग्लैंडके राथमस्टेड*कृषि-प्रयोग-स्थानके डाइरेक्टर† सर विलियम ओगने मेन्चेस्टरमें अपने एक लेक्चरमें कहा था—'लोग रासायनिक कृषिका विरोध करते हैं कि इससे उत्तेजित होकर भूतत्त्व नष्ट हो जाते हैं; परंतु बात बिल्कुल उल्टी है। रासायनिक खादसे फसलकी जड़ें भूमिमें अधिक और विस्तारसे फैलती हैं, जिससे फसल अधिक होती है।'

किंतु यह कोरा सिद्धान्त और औद्योगिक स्वार्थ मात्र है। अमेरिकी‡ 'कनेक्टीकट' पत्रमें 'प्राकृतिक भोजन और कृषि'के जून १९५७ के अङ्कमें उपर्युक्त कथनके विरोधमें श्रीलियोनर्ड विकेंडनने लिखा है—'सर विलियमने जो कुछ भी लिखा है, उसकी जड़ तो टटोलिये। अमेरिकी§ भूमि-रक्षक विभागने १९५२ में एक छोटी पुस्तिका 'हमारी बाकी जमीन' शीर्षक प्रकाशित की है, जो हरेक बागवान और किसानके पास होनी चाहिये; परंतु वह मुद्रित उपलब्ध नहीं है। उसमें लिखित सामग्रीको देखकर अधिकारियोंने जाना कि दुनियाके लोग ऐसी सच्ची बातें पढ़कर चौंक उठेंगे, भड़क उठेंगे; इसलिये उसकी भाषा हल्की करके, विस्तृत करके, नाम बदलकर 'हमारी उपजाऊ भूमि' शीर्षकसे उसे छापा गया और उसमें लिखित मसालेमें अपना पानी मिलाकर पतला कर दिया गया। यह है×कृषि-सूचना-पत्रक संख्या १०६, जो अमेरिकी गवर्नमेंट प्रिंटिंग कार्यालय, वाशिंगटन, डी० सी० से दस सेंट मूल्यमें प्राप्य है। उस सामग्रीको यद्यपि पतला-फीका करके छापा गया है, फिर भी उसमें निम्नलिखित ठोस रस आपको मिलेगा—'२८ करोड़ एकड़ अमेरिकी कृषि और चरागाह भूमि मुर्दार हो गयी है; यह सब भूमि इलीनाय, अयोवा, मिसूरी, कन्सास, नेब्रास्का और वायोमिंग—इन छः राज्योंके क्षेत्रफलके बराबर है। अतिरिक्त ७७ करोड़ ५० लाख एकड़ भूमि भी कुछ निर्जीव-सी हो गयी है। अब हमारे पास केवल ४६ करोड़ एकड़ उपजाऊ भूमि बची है। अब

* Rothamsted Agricultural Experiment Station.

† Sir William Ogg

‡ Agricultural Information Bulletin, 106

§ Conecticut Letterre: Natural Food and Farming, June 57.

× Soil Conservation Service of U. S. Deptt. of Agriculture. "Our Remaining Land".

हम नयी जमीन तो बना नहीं सकते, खोज नहीं सकते। इसे हमें बचाना चाहिये। परंतु ५० लाख एकड़ भूमि प्रतिवर्ष वैज्ञानिक साधनोंके कारण मुर्दार बनती जा रही है। फिर आगे हम कैसे जी सकेंगे ? हमारे देशकी भूमिका जो पंचमांश बरबाद करके छोड़ दिया गया है, उसे सर विलियम ऑग अपने विज्ञानकी करामातसे जिंदाकर उपजाऊ बनायें।'

बस, यहाँपर वैज्ञानिकोंकी करामातका ढोल फूट जाता है। आगे बताया गया है कि एरिजोना राज्यके एक क्षेत्रमें अच्छी जमीन और घास है और अमेरिकामें सबसे पहले लोग उस क्षेत्रमें आये थे। परंतु अब वही उतनी अच्छी भूमि बची है, शेष बड़ा मैदान रेगिस्तान-सा पड़ा हुआ है; यह अपने ही वैज्ञानिक कुकर्मोंसे बनाया गया रेगिस्तान है। पहले यही भूमि हरी-भरी थी। मूर्ख मानवने लोभवश इसे विज्ञानके द्वारा बरबाद कर दिया है। भूमिका तत्त्व बरबाद कैसे होता है, इसका वैज्ञानिक कारण है। उपजाऊ भूमिमें वनस्पति और प्राणि-जीवन भरा रहता है—कई प्रकारके कीड़े-मकोड़े, कीटाणु, जो फसलकी जड़ोंमें सहायक काम करते हैं और वनस्पति—घास; जिसमें जोश—'रस'* होता है, और उस रसमें 'कार्बन' होता है। रासायनिक खाद और गहरी जुताईसे भूतत्त्वका वह प्राण-कार्बन उत्तेजित होकर फसलद्वारा अधिक शोषित और खर्च हो जाता है, इस प्रकार लगातार क्रमशः कार्बन खतम हो जाता है। अतएव कीटाणु भी नष्ट हो जाते हैं। सुपर फास्फेट, नाइट्रेट ऑफ सोडा, अमोनियाँ सल्फेट, पोटाश नाइट्रेट आदि रासायनिक खादोंमें कार्बन नहीं होता; इस कारण भूमि 'कार्बन-हीन' हो जाती है, भूतत्त्व निर्जीव हो जाते हैं। यह याद रखना चाहिये कि भूमिसे खाद्यके लिये जो भी फसल हमें प्राप्त होते हैं, उनमें कार्बन प्रधान है। बिना कार्बनका खाद्य निष्प्राण, बेस्वाद-सा होता है।

अब हम नक़ली हवा, नक़ली पानी और नकली भोजनपर आ गये। भूमिसे फसल प्राप्त होनेके बाद भी उनको टिकाऊ और सुन्दर सुगन्धित स्वादिष्ट बनानेके लिये विषाक्त रासायनिक प्रयोग बार-बार होता रहता है। विज्ञानकी सहायतासे लोभवश मानव कितना बेईमान और बदनीयत हो गया है कि जीवन-पोषणकी, खाने-पीनेकी, दवा-की चीजें भी नकली हो गयीं! नकली प्रकाश—गैस बिजली, नकली यातायात—अपने पाँवोंका उपयोग छोड़कर रेल,मोटर, बायुयान, आदिमें चलनेके कारण मनुष्यकी संतानको छोटी अवस्थामें ज्ञानेन्द्रियों-कर्मेन्द्रियोंके क्षीण होनेसे चश्मे, दाँत लगाने पड़ते हैं और अब तो नकली बच्चे* भी बनने लगे। †कृत्रिम गर्भाधान भी होने लगा।

मानवको रोग, दुःख क्यों होता है ? पापसे! पाप होता है अज्ञानसे। अज्ञान कैसा ? हम नहीं जानते कि हमारा शरीर क्या है, इसकी प्रकृति कैसी है, शरीरके यन्त्र कैसे काम करते हैं; शरीरकी रक्षा, सफाई कैसे की जाय; इसे कैसा भोजन, पोषण, जल-वायु दिया जाय, इससे कैसे कितना काम लिया जाय। हम जो खाते-पीते हैं, वह सब समाजकी नकल करके, रिवाजके वश करते हैं! हम नहीं जानते कि हम जो खाते हैं, वह क्या है, पीते हैं वह क्या है। हम न तो स्वयंको पहचानते, न खाने-पीनेकी चीजोंको या दवाओंको। स्वयं अज्ञानवश पाप करके हम दवाओंमें पापसे मुक्ति ढूँढ़ते हैं। गंदी, घृणित दवाओंसे अपना पाप धोना चाहते हैं, जो वैसा ही है जैसा गोबरको धोनेके लिये मलका उपयोग करना। यह विज्ञान-युगकी कैसी विडम्बना है और मानवकी अन्ध-बुद्धि तथा बदनीयती-का दर्शन तो कीजिये कि दवाके नामपर हाथीकी लीद चार आने तोलेके भाव वह खा जाता है। घरेलू मक्खीका 'गू' सौ रुपये तोले खरीदकर कस्तूरीके नामपर खा जाता है, चटपटे अचार और मीठे शहदमें गन्धकका तेजाब मजेमें खाता है, मकईके भुट्टेकी 'बाल' रँगकर, केसरके भाव लेकर शौकसे, चिकनी सफेद मिट्टीको सपरेटा दूधकी रबड़ीमें, और मीठे बिस्कुट-शरबतोंमें, सिगरेटोंमें डामर-कोलतारसे बने सुगन्धित विष और 'कास्टिक' तथा 'चपड़ा' आदि खाता है। बीमार होनेपर पाश्चात्त्य वैज्ञानिक इन्जेक्शन—मुँहसे नहीं, वरं सीधे अपने रक्तमें; दवाके नामपर, संजीवन रसायनके नामपर भेड़, बंदर, सूअर, घोड़े, अन्य पशुओं और स्त्री-पुरुषोंके मुर्दोंके सड़े रस-मवाद, रक्त-मांस, मल-मूत्र खा-पी जाता है! समझदार मानवकी थालीमें मूलरूपमें ये चीजें परोसी जायँ तो इन्हें देखकर वह पागल हो सकता है; परंतु वैज्ञानिक रासायनिक मिश्रणके कारण वह उन्हें पहचान नहीं पाता और अपने जीवनके लिये आवश्यक रसायनके नामसे सब कुछ खा-पीकर भी अहिंसक-धर्मनिष्ठ हिंदू, जैन, मुसल्मान आदि बना रहता है। विज्ञान-को गले लगाकर मानव आर्षपुत्रसे अब क्या बनता जा रहा है!

* Test tube babies;

* Artificial Insemination

† juice

अतएव अब धीरे-धीरे वह जमाना आयेगा कि दुनियामें सब कृत्रिम मानव होंगे, सारा जीवन कृत्रिम होगा, फिर परिवार-नियोजन और पारिवारिक कलह आदि न होंगे। जब सारा मानव जगत् अपंग, अंधा, लँगड़ा, लूला, विकृतमस्तिष्क, पागल होगा, तब अखण्ड शान्ति होगी। यही विज्ञानकी शान्तिका चरम ध्येय है। इस विज्ञानके अङ्कुर उग रहे हैं—जगत्में बढ़ते हुए बाल-पक्षाघात, बचपनसे ही दाँत गिर जाना, दृष्टि मन्द, पाचन मन्द होना, गर्मी-सर्दी सहन न होना, चलने-फिरनेसे लाचार होना, हृदयरोग, मधुमेह, क्षय, कैंसर—सब उसी भविष्यके अग्रदूत हैं।

जैसे बीस करोड़ वर्ष पूर्वका महाकाय ८४ फुट लंबा, १४ फुट ऊँचा जन्तु डिप्लोडोकस निर्वंश होकर लुप्त हो गया है, विज्ञानद्वारा अब यह सम्भव दृष्टिगोचर हो रहा है कि कीटाणुवादी विज्ञानसे मानव स्वयं इसी प्रकार निर्वंश होकर दुनियासे लुप्त हो जायगा—और बच रहेंगे कीटाणु मात्र। फिर पुनः विकासक सृष्टि-चक्र।

नरसे नारायण बननेकी साधना, आत्म-भावसे परमात्म-भावकी व्यापक भूमिका प्राप्त करनेके पौर्वात्य आदर्श—'मोक्ष', 'निर्वाण', 'अद्वैत परमपद', 'कैवल्य' की साधना भूलकर कीटाणुवादी विज्ञान-यानपर चढ़े हुए मानवका भविष्य कैसा है—विचार कर लीजिये। यह शैतानका खिलौना है, विकृत ज्ञान है।

इतना सब देख-विचारकर, यदि हमें संसारमें मानव और मानवताको कायम रखना है तो अपना भोजन-पानी अपने परिश्रमसे अर्जितकर स्वाभाविक रीतिसे जीनेके लिये, हमें वैज्ञानिक पाखण्ड त्यागकर शहरकी चकाचौंध और गंदगी तथा बनावटी जिंदगीसे भागकर जंगल-गाँव-एकान्तमें ही जाना होगा, जहाँ स्वतन्त्र होकर स्वेच्छासे हम कुछ शुद्ध कमाईसे खा-पीकर, श्वास लेकर, जी सकें।

हम वेद और वेदान्त लेकर कई हजार वर्षोंसे अपनी संस्कृतिमें आत्मा और परमात्माका डंका पीटते आये हैं। विज्ञानने हमारे आत्मा और परमात्माकी खोजमें स्थूल साक्षात्कार करना चाहा। डॉक्टरोंने मानव-शरीरको चीर-फाड़कर रोम-रोम और रक्तबिन्दुतकका विश्लेषण करके कीटाणु-मात्र व्यापक पाया और भौतिक रासायनिक वैज्ञानिकोंने पदार्थोंका सूक्ष्म विश्लेषण करके परमाणुको व्यापक पाया और उसके भी * विघटन-विस्फोटसे पृथ्वीपर प्रलयकी परिस्थिति उत्पन्न कर दी है। सम्भवतः आत्मा और परमात्माको कहीं न पाकर ये वैज्ञानिक कृत्रिम भोजन, भेषज और अनेक भौतिक पदार्थोंके सम्मिश्रण करके अब भले ही कृत्रिम मानवीय* अण्ड-पिण्डके निर्माणमें संलग्न हों और पाप-पुण्य, स्वर्ग-नरक, दुःख-सुखके द्वैत भावको त्यागकर स्वयं द्रष्टा बनें। परस्पर प्रेम और आत्मीयतासे दूर होकर हम इतने पतित और स्वार्थवश बदनीयत हो गये हैं कि अपनी विनाशक प्रकृतिको ही हमने विकास मान लिया है।

यदि भारतको अपनी परमार्थी ऊर्ध्वगामी प्रवृत्ति और जीवनको बनाये रखना है तो आधुनिक बनावटी-मिलावटी भोजन, भेषज और जीवन-चर्याको त्यागकर तुरंत आत्म-सुधारके लिये आत्मनिर्भर होना आवश्यक है।

रोगकी दवा होते हुए भी दुनियाके साथ भारतमें भी रोग बढ़ रहा है। रोग दूर करनेके लिये दवाको हमने उपकारी चमत्कारी साधन मान लिया है—वह ऐसा ही है, जैसे घरमें घुसे चोरका उत्पात दबानेके लिये डाकूको निमन्त्रण देना। वास्तवमें रोग तो है—गंदगी, विकार; उसे निकालनेसे ही, आत्म-शुद्धिसे ही स्वस्थता, आत्मस्थिति होती है। दवा चाहे कितनी भी चमत्कारी कही-मानी जाय और उसका प्रभाव तुरंत दृष्टिगोचर हो, वह हिंसक साधनोंसे बनी हुई, गंदी, दुर्गन्धित वस्तु हमारे शरीरमें गंदगी और विकारको बहुरूपिया बनानेवाली† केवल औद्योगिक स्वार्थकी चीज है। यदि दवाओंसे सचमुच रोग दूर होता तो रोग कभी विकृत न होता, न बढ़ता। इस विषय-पर विदेशी वैज्ञानिक समाचारोंके साररूप तथ्य मेरी लेखनीसे 'कल्पवृक्ष' आध्यात्मिक मासिक पत्र, उज्जैन, में जुलाई १९५७ से अप्रैल १९५९ तकके अङ्कोंमें, तथा गोरखपुरसे प्रकाशित 'कल्याण' मासिक पत्रके नवम्बर १९५८ तथा मार्च, अप्रैल १९५९ के अङ्कोंमें प्रकाशित हो चुके हैं, जो अनेक पत्रोंद्वारा अनेक भाषाओंमें उद्धृत भी हुए हैं। बढ़ते हुए रोगका कारण है 'दवा', बनावटी-मिलावटी जीवन और भोजन-चर्या—यह उनमें सिद्ध किया गया है तथा विख्यात वैज्ञानिकोंके अनुभूत प्रमाण उनमें दिये जा चुके हैं। परंतु स्वार्थी संसारने अन्धविश्वासमें पड़कर उद्योगके नामपर ही इन तत्त्वोंको अपनाया है। विज्ञानकी चकाचौंध-चमत्कार देखकर भ्रमसे हम उन्हें उपकारक मानते हैं।

किसीसे कर्ज लेकर अपनी समस्या पूरी करना निरा भ्रम है। जबतक रोग, ऋण और शत्रु—ये तीन हमारे सामने

*Atom-smashing,

*Synthetic human ova and embryo,

†Vested interest,

रहेंगे, ब्याजसहित बढ़ते ही रहेंगे। इनसे फौरन निपटना चाहिये, इनको फौरन निर्मूल करना चाहिये। रोग और कर्ज तो महाविनाशक शत्रु हैं। रोगकी दशामें कर्ज लेना तो आत्मघातके समान है। दवाओंसे रोग कभी दूर न होगा। घर-घुसे चोरके साथ डाकू मिलकर घरको लूट लेंगे, रोगपर दवा देनेसे शरीर खोखला हो जायगा और सामने बैठा दुश्मन मौकेपर उत्पात करनेसे नहीं चूकेगा। कर्ज देनेवाले हमारे उपकारी कभी नहीं हो सकते, मित्रके भेषमें वे शत्रु हैं। यह सब योजना प्रकृतिविरुद्ध है। जीना है तो आत्मनिर्भर होकर आत्मशक्तिसे ही जिया जा सकता है; रोगपर दवा लेकर, दूसरेसे कर्ज लेकर, आश्रित होकर नहीं; और सामने उपकारीके भेषमें बैठे हुए साहूकारको मित्र तथा शत्रुता की परिस्थितिको विकास या सुधारके लक्षण मानना नितान्त भ्रम है। इनको बढ़नेका मौका न देकर तुरंत इनसे निपटना चाहिये। रोग दूरकर स्वास्थ्य प्राप्त करनेके लिये दवाओंका परित्याग तुरंत करो, कर्ज तुरंत निपटाओ, शत्रुसे मित्रता करो या किसी प्रकार भी शत्रुता समाप्त करो। व्यक्ति, समाज और किसी भी देशके ये तीन महाशत्रु हैं। जो देश रोगी और ऋणी हो तथा उसका रोग और ऋण बढ़ता ही जाय, वह निरन्तर कमजोर होता, दबता ही जायगा, वह स्वतन्त्र नहीं कहा जा सकता।

भक्ति-मूल—विश्वास

[कहानी]

(लेखक—श्री'चक्र')

'पानी !' कुल दस गज दूर था पानी उनके यहाँसे; किंतु दूरी तो शरीरकी शक्ति, पहुँचनेके साधनपर निर्भर है। दस कोस भी दस पद जैसे होते हैं स्वस्थ सबल व्यक्तिको और आजके युगमें वायुयानके लिये तो दस योजन भी दस पद ही हैं; किंतु रुग्ण, असमर्थके लिये दस पद भी दस योजन बन जाते हैं—यह तो सबका प्रतिदिनका अनुभव है।

'पानी !' तीव्र ज्वराक्रान्त वह तपस्वी—क्या हुआ जो उससे दस गज दूर ही पर्वतीय जल-स्रोत है। वह तो आज अपने आसनसे उठनेमें भी असमर्थ है। ज्वरकी तीक्ष्णताके कारण उसका कण्ठ सूख गया है। नेत्र जले जाते हैं। वह अत्यन्त व्याकुल है।

'पानी ! ओह, पानी देने भी आज रामसिंह नहीं आया !' उसने पड़े-पड़े ही एक ओर देखा। उसका आसनके पास पड़ा तूँबा जलरहित है और अभी तो कहीं किसीके आनेकी आहट नहीं मिलती।

'पानी !' पासकी पहाड़ीपर कुछ घर हैं पर्वतीय लोगोंके। उन भोले ग्रामीणोंकी श्रद्धा है इस तपस्वीमें। उनमेंसे एक व्यक्ति रामसिंह तो प्रायः दिनमें दो-तीन बार यहाँ हो जाता है और स्थान स्वच्छ कर जाता है। जल भरकर रख जाता है। कोई और सेवा हुई तो उसे भी कर जाता है। इन महापुरुषकी सेवा करनेका उसे सौभाग्य मिलता है, यही क्या कम है।

रामसिंहके अपने भी तो कार्य हैं। उसके पशु हैं, बाल-बच्चे हैं, कुछ खेत हैं और फिर कल रात उसे भी ज्वर हो गया था। उसे आज आनेमें देर हो रही है, इसमें कोई अद्भुत बात तो नहीं है।

'पानी !' तपस्वीका कण्ठ सूख रहा है। उसकी बेचैनी बढ़ रही है। उसे बहुत तीव्र ज्वर है और ज्वरकी प्यास—'रामसिंह नहीं आया !' दो क्षण पश्चात् ही उसने इधर-उधर नेत्र घुमाये।

'पानी ! प्यास ! रामसिंह !' लगा तपस्वी मूर्छित हो जायगा। उसका गौरवर्ण मुख ज्वरके कारण लाल हो रहा है। उसके अरुणाभ नेत्र अङ्गार-से जल रहे हैं।

'रामसिंह ! तो तू रामसिंहका चिन्तन और उसकी प्रतीक्षा कर रहा है !' पता नहीं क्या हुआ, आप चाहें तो इसे ज्वरकी विक्षिप्तता कह सकते हैं, आपको मैं रोकता नहीं। 'तू रामसिंहके भरोसे यहाँ आया था। धिक्कार है तुझे, नीलकण्ठ !'

हाँ, तपस्वीका नाम नीलकण्ठ है। यह दूसरी बात कि उसे यहाँ कोई इस नामसे नहीं जानता। सच तो यह कि यहाँ कोई उसका नाम या परिचय जानता ही नहीं। जानने-पूछनेका साहस नहीं हुआ किसीको। किंतु नामकी बात छोड़िये—तपस्वी सम्भवतः ज्वरसे उन्मत्त हो गया है। वह बारंबार इस कठोर भूमिपर मस्तक पटक रहा है। अपने मुखपर

तमाचे मारता जा रहा है—'तू अब रामसिंहकी प्रतीक्षा करने लगा है ! तुझे अब आशुतोष प्रभुका भरोसा नहीं रहा और तू चला है उपासना करने ? उपासक बना बैठा है तू इस अरण्यमें !'

नेत्रोंसे अश्रुधारा चल रही है । मुख लाल-लाल हो गया है; किंतु विक्षिप्त हो उठा है वह तो ।

× × ×

आज जिसे नीलकण्ठ कहते हैं, स्वर्गाश्रमसे लगभग सात-साढ़े सात मील दूर मणिरत्नकूट पर्वतके चरणोंमें चारो ओर पर्वतमालाओंसे घिरा स्थल तो वही था; किंतु तब उसका कोई नामकरण नहीं हुआ था । बात जो शताब्दियों पूर्वकी है यह ।

नीलकण्ठ आज चौदह वर्षसे कुंजी भगतकी निष्ठासे स्वच्छ है । उससे पूर्व आजके लोगोंने ही देखा है कि वहाँ प्रायः वन्यतरुओंके पत्तोंकी राशि सर्वत्र स्वच्छन्द पड़ी रहती थी । बाबा रामझरोखादासजीकी साज-सज्जा कहाँ थी और कहाँ थी तब नैपाली कोठी, धर्मशाला और दूकानें ।

तबकी बात, जब ये पाकर-अश्वत्थके युग्मतरु भी नहीं थे । केलल दोनो जलधाराएँ थीं, जो आज भी नीलकण्ठके चरणोंको दो ओरसे धोती एकमें मिलकर आगे बढ़ जाती हैं । तब पाइप लगाकर धाराको नलका रूप देनेकी व्यवस्था नहीं थी । तब तो उनमें पत्तोंकी राशि पड़ी रहती और सड़ा करती थी ।

आज भी नीलकण्ठमें यदा-कदा रीछ रातमें आ जाते हैं । शेर और चीते वहाँसे सौ-दो-सौ गजतक पर्यटन कर जाते हैं । उस समय तो वन्य पशुओंका आवास था नीलकण्ठ । केवल दिनमें पर्वत-शिखरोंपर स्थित पर्वतीय जन अपने पशुओंको लेकर वहाँ आते थे ।

ऐसे अरण्यमें एक दिन एक लंबे दुबले गौरवर्ण तरुणने, पता नहीं कहाँसे, आकर आसन लगा दिया । वह वहीं आ जमा, जहाँ आज भगवान् नीलकण्ठ विराजमान हैं । उस समय तो वहाँ ठिकानेकी समतल भूमि भी नहीं थी ।

बिखरे घुँघराले रूखे केश, प्रलम्ब बाहु, अरुणाभ सुदीर्घ नेत्र—पता नहीं क्या था उस तरुणमें कि वन्य पशुओंने प्रथम दिनसे ही उसे अपना सुहृद् मान लिया । भल्लूक-शिशु रात्रिमें कभी-कभी उसके तूँबेका जल लुढ़का दिया करते थे—इससे अधिक उसे किसीने कभी तंग नहीं किया । उसके समीप शेर या चीतेके जोड़े रात्रिमें चाहे जब निःशङ्क आ बैठते थे ।

तूँबा और कौपीन—इनके अतिरिक्त उसके पास तो कंद खोदनेके लिये भी कुछ नहीं था । किंतु जो इस प्रकार सर्वात्मापर अपनेको छोड़ देता है, विश्वम्भर उसकी उपेक्षा कर दे तो उसे विश्वम्भर कहेगा कौन ? पर्वतीय जन उसके आस-पासका स्थान आकर स्वच्छ कर जाने लगे और उनमेंसे कभी किसी और कभी किसीकी गायका दूध तपस्वीकी स्वीकृति पाकर सफल हो जाता था । दूधके अतिरिक्त तपस्वीने कभी कुछ लिया नहीं ।

ऋतुएँ आयीं और गयीं । तपस्वी क्या करता है—भला, भजन-साधनको छोड़कर तपस्वी और क्या करेगा ? इन बाबाजी लोगोंके अटपटे साधन कहाँ पर्वतीय जनोंकी समझमें आते हैं । हाँ, प्रारब्धका भोग तो सभीको भोगना पड़ता है । एक वर्षमें जब जल मलिन हुआ, पत्ते सड़े, मच्छरोंका अखण्ड संकीर्तन अन्य वर्षोंसे बहुत बढ़ गया और पिस्सुओंकी संख्या भी पर्याप्त हो गयी, एक दिन तपस्वी रुग्ण हो गया । उसे हड्डी-हड्डी कम्पित कर देनेवाला शीत लगा और ज्वर हो गया ।

ज्वर आया और आता रहा । कई दिनोंसे तपस्वी इतना अशक्त हो गया है कि अपने आसनसे खिसक भी नहीं सकता । पासके पर्वतशिखरपर कुछ घर हैं । उनमें एक घर रामसिंहका है । रामसिंह तपस्वीके लिये जल भर जाता है, स्थान स्वच्छ कर जाता है, कुछ आवश्यक सेवा-कार्य कर जाता है; किंतु रामसिंहके भी बाल-बच्चे हैं, पशु हैं, खेत हैं और कल रात उसे भी ज्वर हो गया । उसे आनेमें देर होना कहाँ कैसे अनुचित या अस्वाभाविक कहा जा सकता है ।

× × ×

'आप यह क्या कर रहे हैं प्रभु !' रामसिंह स्वयं खिन्न है कि वह देरसे आ सका । वह आज अपनी मैली मोटी चद्दर पूरे शरीरपर लपेटे है ।

'रामसिंह !' तपस्वीने देखा उसकी ओर और जैसे उसकी विक्षिप्तता शिथिल हो गयी । उसके अश्रु रुक गये । किंतु उसका प्याससे सूखा कण्ठ भरा-भरा था—'तुमको भी ज्वर हो गया दीखता है । तुम तत्काल घर लौट जाओ !'

'जल रखकर मैं अभी चला जाता हूँ !' रामसिंहने तपस्वीके चरणोंपर मस्तक रखा और फिर तूँबा लेने बढ़ा ।

'उसे छूओ मत !' तपस्वीने रोक दिया। 'मुझे जल नहीं चाहिये। दूसरे लोगोंसे कह देना, आज इधर कोई न आये !'

'जो आज्ञा, प्रभु !' सरल रामसिंहने फिर प्रणाम किया और वह लौट चला। उसने तो साधु-संतोंकी आज्ञा मानना ही सीखा है। उसे बातका सीधा अर्थ ही समझमें आता है। महात्मा लोगोंके चित्तका क्या ठिकाना—वे पता नहीं कब कैसे रहना चाहते हैं। उनकी आज्ञा बिना प्रतिवादके मान लेनी चाहिये, यही जानता है यह रामसिंह।

'मैं रामसिंहकी प्रतीक्षा कर रहा था और वह आया।' रामसिंहके पीठ फेरते ही तपस्वी धीरे-धीरे बुदबुदाया। 'मेरे प्राण आशुतोष प्रभुकी प्रतीक्षा करेंगे और वे दयामय नहीं पधारेंगे। परंतु इस अधम नीलकण्ठके प्राणोंने उनकी प्रतीक्षा की कहाँ है !'

'पानी !' तपस्वीके होठोंसे अब यह शब्द नहीं निकल रहा था; क्योंकि उसने तो अब दाँत-पर-दाँत दबा लिये थे। किंतु उसके भीतर ज्वरका भीषण दाह—पानीकी माँग अत्यन्त प्रबल हो चुकी थी। उसके प्राणोंमें छटपटाहट चल रही थी।

'अब तो श्रीगङ्गाधरके सरोजारुण करोंसे गङ्गाजल पीना है।' तपस्वीका संकल्प स्थिर हो गया। उसने दैहिक व्यथाकी सर्वथा उपेक्षा कर दी—'वह यहाँ प्राप्त हो या कैलासके दिव्य धाममें।'

जब कोई हठी इस प्रकार हठ कर बैठे, किसीके प्राण सचमुच उस चन्द्रमौलिके लिये ही आकुल हो उठें, कोई उसी विश्वनाथपर भरोसा करके अड़ जाय—वह अपार करुणार्णव वृषभध्वज उससे पलभर भी दूर कहाँ रहता है।

रामसिंह कठिनतासे अपने घरके मार्गमें चौथाई दूर गया होगा—अरण्य वृषभके घंटसे निकली दिव्य प्रणव-ध्वनिसे पूरित हो गया। बाल शशाङ्ककी मृदु किरणें मूर्छित-प्राय तपस्वीके भालपर पड़ीं और साथ ही पड़ा एक अमृत-स्यन्दी कर। विभूतिभूषण कृत्तिवास प्रभु स्नेहपूर्वक देखते हुए कह रहे थे—'वत्स !'

ज्वर, ज्वरकी ज्वाला और तृषा—अरे, उन श्रीगङ्गाधरके सम्मुख तो कराल कालकी महाज्वाला भी शान्त हो जाती है। दूर भागती है त्रितापकी ज्वाला उन पार्वतीनाथके श्रीपदोंसे। तपस्वीके प्राण आप्लावित हो गये। उसने नेत्र खोले और वैसे ही मस्तक धर दिया उन सुरासुरवन्दित श्रीचरणोंपर।

'वत्स ! गङ्गाजल लाया हूँ मैं।' तपस्वीको स्तवन करनेका समय नहीं मिला। श्रीगङ्गाधरके करोंमें उनका सुधावारि-पूरित खप्पर आगे बढ़ चुका था। तपस्वीने मस्तक उठाया और प्रभुने खप्पर उसके अधरोंसे लगा दिया !

× × ×

'यह तो दिव्य भूमि है !' भगवान् आदि शंकराचार्य जब उत्तराखण्डकी ओर पधारे, ऋषिकेश आनेपर पता नहीं किस प्रेरणासे वे गङ्गापार होकर चलते गये पर्वतोंमें और वर्तमान नीलकण्ठ स्थानपर पहुँचे। उन्होंने दोनो पर्वतीय लघु जलधाराओंके संगमके समीप सिद्धवटी (वट, पीपल, पाकरका सम्मिलित तरु) देखा और प्रसन्न हो गये। उन्होंने आचमन किया जलमें और सिद्धवटीके समीप आसीन हुए।

'यहाँ तो भगवान् नीलकण्ठका स्वयम्भूलिङ्ग है।' सहसा भगवान् शंकराचार्यने नेत्र खोले और आसनसे उठ खड़े हुए। उनके निर्देशपर तरुमूलके समीप एकत्र मृत्तिकाराशि साथके सेवकोंने दूर की और उसके नीचेसे श्यामवर्ण भगवान् नीलकण्ठका बाणलिङ्ग प्रकट हो गया। आदि शंकराचार्यके करोंसे ही प्रथमार्चन हुआ नीलकण्ठ भगवान्का। तभीसे यह क्षेत्र 'नीलकण्ठ' कहा जाने लगा।

'अपने परम प्रिय आराधकके लिये प्रभु यहाँ व्यक्त हुए और लिङ्गरूपमें उसीकी श्रद्धाको स्वीकार करके सदाके लिये स्थित हो गये।' भगवान् शंकराचार्यने साथके जनोंको उस समय सूचित किया था।

× × ×

हम तो नीलकण्ठमें ग्रीष्मवास करने गये थे। हमें एक संतने बताया था—'भगवान् नीलकण्ठकी स्थापना आदि-शंकराचार्यके करोंसे हुई है।'

स्थापनाकी बातमें कुछ अन्तर था। वह स्थापना नहीं, अभिव्यक्ति और प्रथमार्चन था। हमें बाबा रामझरोखादास-जीने बताया था—'भगवान् नीलकण्ठ स्वयम्भूलिङ्ग हैं।'

'वह ऊपर शिखरपर भुवनेश्वरीका मन्दिर है।' एक पर्वतीय भाईने दिखाया था। अपने अनन्य विश्वासीके समीप आकर जब नीलकण्ठ प्रभु वहीं स्थित हो गये, तब अपने उन आराध्यका सतत दर्शन करती देवी भुवनेश्वरी समीपके पर्वतशिखरपर विराजमान हों, यह सर्वथा स्वाभाविक है।

पीपलका चमत्कार

[एक मुसलमान मिस्त्रीकी जुबानी अपनी आँखों देखी बिल्कुल सत्य घटना]

(लेखक—भक्त श्रीरामशरणदासजी)

संत बाबा मलूकदासजी महाराजने कहा है—

हरी डाल मत तोड़िये, लागै सूखा बान।
दास मलूका यों कहै, अपनो-सो 'जिय' जान॥

हरी डालका तोड़ना पाप बताया है। दूसरे एक संतने कहा है—

साधू ऐसा चाहिये, जो दुखै दुखावै नाँय।
फूल पात 'तोडै' नहीं, रहै बगीचे माँय॥

आजके बाबूलोग तुलसी, पीपल आदिको पूजना और वृक्षोंमें जीव मानना सब बेकारकी बात बताते हैं और इसे दकियानूसी विचार कहते हैं। पर 'भूत वही, जो सिर चढ़ बोलै' इस कहावतके अनुसार एक मुसल्मानने पीपलमें जीव होने और उन्हें भी हमारी भाँति काटनेपर दुःख होने तथा हरे पीपलको, मानवताको तिलाञ्जलि देकर, लोभके वशीभूत हो, काटनेपर प्रत्यक्ष चमत्कार दिखानेकी जो हमें अपनी आँखों-देखी रोमाञ्चकारी सत्य घटना सुनायी, वह यहाँपर दी जाती है। इससे शास्त्रोंकी, पुराणोंकी बातें अक्षर-अक्षर सत्य सिद्ध होती हैं और मानवताको तिलाञ्जलि देनेका प्रत्यक्ष फल क्या मिल सकता है—यह प्रत्यक्ष होता है। घटना इस प्रकार है—

हरे पीपलको काटनेका और मानवके विश्वासघातका प्रत्यक्ष चमत्कार

सन् १९५७ जूनकी बात है, पिलखुआमें हमारा एक मकान बन रहा था। काम करनेवालोंमें एक राज था, जो जातिका मुसल्मान था। उसका नाम था मियाँ सईदखाँ, जो पिलखुआका ही रहनेवाला है। एक दिन दोपहरकी बात है, किसीने हमें मियाँ सईदखाँके सामने आकर सुनाया कि अमुक जगह काँग्रेसी सरकारकी ओरसे बंदर पकड़े जा रहे हैं और पकड़नेवाले उन्हें बड़ी-बड़ी बुरी यातनाएँ देकर पकड़ते हैं और फिर उन्हें पकड़-पकड़कर पिंजरेमें बंद करके अमेरिका मरनेके लिये भेज दिया जाता है। यह सुनकर सभीको बड़ा दुःख हुआ। इसपर मिस्त्री मियाँ सईदखाँने कहा—'भक्तजी! यह तो बंदरोंकी बात है, उन्हें दुःख होता ही है और जब दुःख होता है, तब वे रोते-चिल्लाते हैं और कीं-कीं करते हैं। जहाँपर बंदर पकड़े जाते हैं, वहाँ बड़ी भारी बीमारी महामारी फैलती देखी गयी है। यद्यपि हम जातिके मुसल्मान हैं, तो भी जो बात सत्य होगी, वह कहनी ही पड़ेगी। यह तो हुई बंदरोंकी बात, हमने तो एक हरे पीपलके वृक्षकी एक बड़ी विचित्र घटना अपनी आँखोंसे देखी है और अनुभव किया है पीपलमें भी हमारी-तुम्हारी तरह जीव होता है तथा हमारी-तुम्हारी भाँति ही उन्हें भी सुख-दुःखका अनुभव होता है। वह बोलता भी है और उसके काटनेका फल—सतानेका, विश्वासघात करनेका फल भी तुरंत मिलता है। वाकईमें वह देवता है, यह सब मैंने अपनी आँखोंसे देखा है।'

अब तो हमें तथा और सभी लोगोंको बड़ी उत्सुकता हुई और हमने कहा—'अच्छा, मियाँ सईदखाँ, जो भी तुमने अपनी आँखोंसे देखा हो, वह सच-सच ज्यों-का-त्यों हमें सुनाओ।'

सईदखाँने कहा—'सुनिये, जो हमने अपनी आँखों देखा है, वही आपको सुनाते हैं—वह भी और कहींकी नहीं, इसी पिलखुआके पासकी और बिल्कुल हमारी आँखों-देखी सत्य घटना है। एक बार हमारे एक मुसल्मान साथी बढ़ईने, जिसका नाम दलवीरखाँ था, एक राजपूतसे एक बिल्कुल हरा पीपल खरीदा और उसकी कीमतके सौ रुपये राजपूतको दे दिये। उसने एक दूसरा हिस्सेदार भी कर लिया, जिसका नाम था इसाकखाँ बढ़ई। दलवीरखाँ और इसाकखाँमें आपसमें यह तय हुआ कि दोनो जने मिलकर पीपलको काट लेंगे और उसमें जो नफा होगा, दोनो मिलकर बाँट लेंगे। काटनेका दिन नियत किया गया।

पीपलद्वारा प्राणोंकी भीखकी याचना

जब पीपलके काटनेका दिन आया, तब उसके काटनेसे ठीक पहले दिनकी रात्रिको दलवीरखाँको स्वप्नमें वही

पीपल दिखलायी दिया और उसने दलवीरखाँसे कहा—'दलवीर ! तू मुझे काटे मत, सताये मत । तू मुझे अपना समझकर छोड़ दे और तूने जो मेरे मोल लेनेमें सौ रुपये उस राजपूतको दिये हैं, वे सब रुपये और जो तुझे मेरे काटनेपर मुनाफेके रुपये मिलते, वे भी तुझे मिल जायँगे । मेरी जड़में अमुक जगह सोना रखा है, तू जाकर खोदकर उसे निकाल ले और बेचकर रुपये कर ले; पर तू मुझे काटे मत । मुझे जीवन दान कर दे ।' दलवीरखाँ बढ़ई जागा और स्वप्नकी बात याद करके अचरजमें डूब गया । उसने आजतक अपने जीवनमें कभी ऐसा स्वप्न पहले देखा ही नहीं था । पहले तो उसने स्वप्नको झूठा समझा और उसे विश्वास नहीं हुआ कि कहीं पीपलमें भी जान होती है और पीपलको भी सुख-दुःखका अनुभव होता है तथा पीपल बोलता है । पर बादमें उसने सोचा—चलो, चुपचाप चलकर देखें सोना मिलता है या नहीं । इसमें हमारा बिगड़ता भी क्या है; मिल गया तो ले आयेंगे, नहीं तो चले आयेंगे । ऐसा विचार करके वह उठा और चुपचाप उसी पीपलके पास जा पहुँचा । उसने पीपलके बताये स्थानपर खोदकर देखा तो सचमुच उसका स्वप्न बिल्कुल सत्य निकला और उसे मिट्टीमें दबी पीली चमचमाती सोनेकी सलाख प्राप्त हुई । अब तो उसके आश्चर्यका ठिकाना न रहा और वह फूला न समाया । हरे वृक्षोंमें भी जान होती है और वे भी हमारी ही भाँति सुख-दुःखका अनुभव करते हैं, यह उसे पक्का निश्चय हो गया । वह घरपर आया और अपनी बीबीको भी सब बातें बता दीं । पर फिर उसके मनमें पाप सवार हुआ और उसने मानवतासे गिरनेका निश्चय कर 'लालच बुरी बलाय'के अनुसार सोचा कि 'यह बात यदि मेरे दूसरे हिस्सेदारको मालूम हो गयी तो वह भी इसमेंसे आधे रुपये माँगेगा । इसलिये इस बातको गुप्त रखना ही अच्छा है, किसीको भी सुनाना ठीक नहीं ।' अतः उसने किसीको भी यह बात नहीं बतायी, उसे बिल्कुल गुप्त रखा ।

अब पीपलके काटनेका जो दूसरा दिन नियत किया गया था, वह जब आया, इसाक अपनी कुल्हाड़ी लेकर दलवीरखाँके पास पहुँचा । यह दलवीर इतना कृतघ्न निकला और मानवतासे इतना गिरा कि जब पीपलने इससे प्राणोंकी भिक्षा माँग ली थी और बदलेमें इसे भरपेट सोनेके रूपमें रुपये दे दिये थे, तब भी इसे संतोष नहीं हुआ और तनिक भी दया नहीं आयी । इसका बुरा समय भी आनेवाला था, इसीलिये उसकी बुद्धि भ्रष्ट हो गयी । वह कुछ भी विचार न करके अपनी कुल्हाड़ी उठा इसाकके साथ हो लिया । वृक्ष काटनेसे पहले बढ़ई लोग गुड़ बाँटा करते हैं । हम भी उस दिन वहाँ जा पहुँचे थे और सोचा—चलो, मेलके हैं, रास्तेमें मिलते चलेंगे और गुड़ मिलेगा, उसे ले लेंगे । हम जाकर बैठ गये । वे दोनो आये और उस पीपलकी कटाई लगानेको तैयार हो गये । ज्यों ही दोनो बढ़इयोंने पीपलको काटनेके लिये कुल्हाड़ी चलायी कि कुल्हाड़ीके लगते ही एकदम पीपलके अंदरसे खूनके फव्वारे छूटने लगे और आस-पास खड़े सभी मनुष्योंके कपड़े खूनसे भीग गये । यह देखकर सभीको बड़ा आश्चर्य हुआ । किसीने भी आजतक अपने सारे जीवनमें ऐसी महान् आश्चर्यजनक घटना न देखी थी, न सुनी ही थी । वृक्षोंमेंसे इस प्रकार खूनके फव्वारे छूटना एकदम नयी घटना थी । दलवीरखाँ और इसाकखाँने अपने जीवनमें एक नहीं, इससे पहले सैकड़ों ही हरे दरख्त काटे होंगे; पर आजतक किसी भी वृक्षमेंसे इस प्रकार खूनकी धारा बहती हुई और छूटती हुई नहीं देखी थी । यह क्या हुआ और ऐसा क्यों हुआ, यह रहस्य किसीकी भी समझमें नहीं आया । दलवीरखाँ बढ़ईको तो सब मालूम था, पर वह तो मानवताको तिलाञ्जलि देकर और लोभके वशीभूत हो इस असली रहस्यको किसीको बतानेके लिये तैयार नहीं था । वह सबके सामने बिल्कुल ऐसा बना रहा कि जैसे औरोंकी भाँति यह भी कुछ नहीं जानता और उसे भी किसी बातका पता नहीं है ।

होनी बड़ी प्रबल है । जो होना होता है, होकर ही रहता है । पीपलके द्वारा इस प्रकार सबके सामने प्रत्यक्ष चमत्कार दिखाये जानेपर भी दलवीरको होश नहीं आया और वह काटनेसे बाज नहीं आया । उसने कोई परवा नहीं की और फिर कुल्हाड़ी चलाना—काटना शुरू कर दिया । दलवीरखाँ बढ़ईके एक ही लड़का था और वह बिल्कुल अच्छा तथा बड़ा तन्दुरुस्त था । उसके किसी भी प्रकारकी बीमारीका नाम भी नहीं था । पर पीपल काटने, पीपलके साथ विश्वासघात करनेका बुरा फल आज उसे भोगना था—'तुलसी' हाय गरीबकी कभी न खाली जाय ।

ज्यों-ज्यों जङ्गलमें कुल्हाड़ी चलायी जा रही थी और पीपलको काटा जा रहा था, त्यों-ही-त्यों दलवीरखाँके इकलौते लड़केकी अकस्मात् हुई बीमारी बढ़ती जाती थी और ज्यों ही शामतक पीपल पूरा काटा गया, त्यों ही शामतक वह

लड़का भी मर गया। अब तो सारे गाँवमें हा-हाकार मच गया। जो लड़का कलतक बिल्कुल चंगा था, वह एक-दम कैसे मर गया, इस रहस्यको कोई भी नहीं समझ सका और सारा गाँव उसके घरपर इकट्ठा हो गया। दलवीरखाँकी स्त्रीको इस सत्य घटनाका पता था कि किस प्रकार मेरे पापी पतिने पीपलके साथ विश्वासघात किया है। उसने सोचा कि पीपलके द्वारा स्वप्नमें अपने प्राणोंकी भीख माँगनेपर भी और बदलेमें सोनेकी सलाख दे देनेपर भी इसने पीपलको नहीं छोड़ा तथा मानवतासे गिरकर घोर दानवताका काण्ड किया, उसीका यह महान् भयंकर दुष्परिणाम है जो हमारा इकलौता लड़का बिना किसी बीमारीके देखते-देखते मर गया। उसके धैर्यका बाँध टूट गया और वह फूट-फूटकर रोने लगी, सिर धुन-धुनकर अपनी छाती पीटने लगी। सारा गाँव आ गया और किसीने दलवीरखाँको भी जाकर खबर कर दी, जिससे वह भी भागा हुआ आया और रोने-चिल्लाने लगा। जब उसकी स्त्रीने अपने पतिको आते देखा, तब वह और भी जोर-जोरसे रोने-चिल्लाने लगी और उसने सबके सामने शर्म छोड़कर अपने पापी पतिकी छातीमें हाथ मारकर उसकी काली करतूतोंका भंडाफोड़ करना प्रारम्भ कर दिया। वह सबके सामने रोती हुई बोली कि 'मेरे इकलौते बेटेको और किसीने नहीं मारा है, यह सामने खड़ा इसका पापी बाप ही उसकी मौतका जिम्मेवार है। इस पापी बापने ही अपने इकलौते बेटेको मौतके घाट उतारा है। यही बेटेका हत्यारा है। इस पापीसे जब पीपलने रातमें स्वप्न देकर अपने प्राणोंकी इससे भीख माँग ली थी और इसे सौ रुपये तथा उसके सारे मुनाफेके रुपयेके एवजमें सोनेकी सलाख दे दी थी, फिर भी इस पापीको सब्र नहीं हुआ और यह हत्यारा लोभके वशीभूत हो कुल्हाड़ी लेकर पीपलको काटने जा चढ़ा। जब उसमेंसे खूनकी धार निकली, जैसी कभी आज-तक नहीं देखी गयी थी, तब भी यह बाज नहीं आया, नहीं माना और आखिर अपने इकलौते बेटेको मौतके घाट उतारकर ही इसने दम लिया। हाय पापी! तेरा नाश हो जाय, तूने सारे घरको बरबाद कर दिया।'

अब तो सारा गाँव:इस बिल्कुल सत्य घटनाको सुनकर आश्चर्यचकित हो गया। सभी लोग दाँतों-तले अँगुली दबाने लगे और हिंदुओंके शास्त्रोंकी बातें गप नहीं हैं वरं अक्षर-अक्षर सत्य है, यह कहने लगे। हिंदूलोग जो हरे वृक्षमें जीव बताते हैं और हरे वृक्षोंको काटना घोर पाप मानते हैं तथा वृक्षोंमें भी हमारी भाँति सुख-दुःखका अनुभव होता है, यह बताते हैं, वह सत्य है। वे मानते हैं—पीपल तो साक्षात् देवता है, इसके पूजनसे बड़े-बड़े कार्य सिद्ध होते हैं और इसके अपमानसे तथा इसके शापसे महान् हानि होती है। इसको सभी हिंदू-मुसल्मान एक स्वरसे स्वीकार करने लगे और सत्य मानने लगे। सारा गाँव दलवीरखाँको धिक्कारने लगा और वह भी फूट-फूटकर और दहाड़ मारकर रोने लगा। उसने रोते-रोते कहा—'सचमुच मैं ही अपने बेटेका हत्यारा हूँ। यदि मैं लोभके वश न होकर पीपलकी बात मान लेता और पीपलकी दी हुई सोनेकी सलाखपर ही संतोष कर लेता, पीपलके साथ विश्वासघात नहीं करता तो मेरा आँखोंका तारा, प्राणप्यारा इकलौता बेटा मेरे हाथसे नहीं छिनता। मेरा घर बरबाद नहीं होता और मेरा बुढ़ापा नहीं बिगड़ता। खुदाके यहाँ इंसाफ है, मैंने हकीकतमें बड़ा भारी गुनाह किया था, जो हरे पीपलको काटा और उसके साथ विश्वास-घात किया। उसीका नतीजा मुझे खुदाने दिया। मैं अबसे कभी भूलकर भी हरे पीपलको नहीं काटूँगा। यह प्रतिज्ञा करके कहता हूँ।'

बादमें उसने कभी हरा वृक्ष नहीं काटा। यह बिल्कुल सत्य घटना क्या यह सिद्ध नहीं करती कि मानवको वृक्षोंके साथ भी मानवोचित व्यवहार करना चाहिये ?

हरि ही सों लौ लागी

रसिकवर हरि सुमिरै बड़भागी।
हरि ही कहै, सुनै हरि ही, अरु हरि ही सों लौ लागी॥
हरि ही को नित लाड़ लड़ावत हरि ही के अनुरागी।
श्रीहरिदासी 'ललितकिसोरी' प्रेम परस्पर पागी॥

कामके पत्र

(१)

भगवान्‌की सहज कृपामें विश्वास करो

सप्रेम हरिस्मरण । मनुष्य दुर्बल प्राणी है। जन्म-जन्मान्तरका उसे विषय-सेवनका अभ्यास है, सङ्ग भी विषयी जगत्‌का है। काम, क्रोध, लोभ, मोहके वश सदा वह योनि-योनिमें रहता आया है। इसलिये मनमें विकारों तथा दोषोंका रहना कोई आश्चर्यकी बात नहीं है। पर भगवान्‌की कृपासे जब मनके दोष दीखने लगते हैं तथा उनके रहनेका दुःख होने लगता है, तब वे नष्ट होने लगते हैं—'जाने तें कछु छीजहिं पापी ।' वास्तवमें संसारके प्राणि-पदार्थोंमें सुखकी कल्पना किसी-न-किसी अंशमें बनी रहती है, इसीसे अनुकूल विषयोंमें आसक्ति रहती है, उनके प्राप्त करनेकी कामना होती है तथा उनके न मिलने या नष्ट हो जानेपर दुःख होता है। और इसीसे मनुष्यकी, जानते-समझते हुए भी, बुरे कर्ममें प्रवृत्ति होती है। कई बार भगवान्‌के नामपर भी नासमझीसे विषयासक्तिवश विषय-सेवन होता रहता है। पर भगवत्कृपापर विश्वास करके भगवान्‌के बलसे इस प्रवृत्तिको तथा इस प्रकारकी इच्छाओंको सर्वथा नष्ट कर देना चाहिये। इन्द्रिय-सुख-लालसा, मानकी इच्छा, शरीरके आरामकी कामना, अनुकूल प्राणि-पदार्थ-परिस्थितिकी लालसा—ये सभी हमारी यथार्थ भगवत्-प्रीतिमें बाधक हैं; परंतु इनका त्याग सहज नहीं है। इसलिये इनके त्याग या नाशकी सच्ची इच्छा जाग्रत् करके अपनेको सर्वथा निर्बल मानकर सर्वसमर्थ प्रभुके शरण हो जाना चाहिये। प्रभु निर्बलके बल हैं, असहायके सहायक हैं। वे ऐसे करुणामय हैं कि शरण होनेवालेके पापोंसे घृणा तो करते ही नहीं—छोटे बच्चेका मल जैसे माँ अपने हाथसे धो देती है, उसी प्रकार स्वयं उसके पापोंको धोकर साफ कर देते हैं, पापके मूलतकका नाश कर देते हैं।

'अहं त्वा सर्वपापेभ्यो मोक्षयिष्यामि मा शुचः।'
'पापयोनयः………… तेऽपि यान्ति परां गतिम्।'

—उनकी घोषणा है। वे शुद्ध होनेपर अपनाते हों, ऐसी बात नहीं है। कोई कैसी भी—बुरी-से-बुरी हालतमें हो, वह यदि भगवान्‌की शरणमें चला जाता है तो भगवान् उसे तुरंत अपना लेते हैं और तुरंत उसके पापोंका नाश कर देते हैं। अच्छा होनेपर रोगी वैद्यके पास क्यों जाय? रोगकी अवस्थामें ही वह जाता है और वैद्य उसे अच्छा कर देते हैं। वैद्यकी सफलता रोगीको अपनाकर उसे अच्छा करनेमें ही है। इसीसे भगवान् पुनीतोंकी परवा नहीं करते, शरण आये पामरोंपर प्रीति करते हैं—

ऐसी कौन प्रभु की रीति ।
बिरद हेतु पुनीत परिहरि पाँवरनि पर प्रीति ।

इसलिये कभी भी निराश न होकर सदा आशावादी रहना चाहिये। भगवान् करुणासागर हैं, उनकी सहज कृपासे हमारे सारे पाप-ताप तुरंत वैसे ही नष्ट हो जायँगे, जैसे सूर्योदय होते ही अन्धकार नष्ट हो जाता है। और यह विश्वास करना चाहिये कि भगवान्‌ने मुझे अपना लिया है। जहाँ ऐसा विश्वास होने लगेगा, वहीं स्वाभाविक ही पाप-ताप नष्ट होने लगेंगे और जहाँ यह विश्वास सुदृढ़ और निश्चित हो जायगा, वहाँ फिर पाप-ताप रहेंगे ही नहीं। सारी अशान्ति नष्ट होकर शान्तिकी उपलब्धि हो जायगी—

सुहृदं सर्वभूतानां ज्ञात्वा मां शान्तिमृच्छति ।

(२)

प्रार्थनासे रोगमुक्ति

प्रिय बहिन ! सप्रेम हरिस्मरण । आपका पत्र मिला। दैवी अनुष्ठान करानेकी शक्ति नहीं है तो

कोई बात नहीं, आप स्वयं अपने मनसे अपनी ही करुण भाषामें सर्वशक्तिमान् सहजसुहृद् भगवान्से प्रार्थना कीजिये। इस साधनके सिवा मेरी जानकारीमें कोई ऐसी वस्तु नहीं है, जिसे मैं आपको बता सकूँ। विश्वासपूर्वक की हुई प्रार्थनासे मानस तथा शारीरिक सभी प्रकारके रोगोंका नाश हो सकता है। 'साइंस ऑव थॉट रिव्यू'* नामक एक इंगलैंडके पत्रमें श्रीगिल्बर्ट हेनरी गेज नामक सज्जन लिखते हैं—जर्मनीके एक आदमीको 'शैशविक पक्षाघात' (Polio) का रोग जन्मके पहले ही वर्ष हो गया था। फलतः उनके दोनो पैर लकवेसे बेकार हो गये। उसके लिये प्रार्थना की गयी। चार महीनेके बाद समाचार मिला कि उनके पैरमें नवीन शक्ति आ गयी है। ४८ सालसे जो मांसपेशियाँ मरी हुई थीं, वे सक्रिय हो गयी हैं, उनका जीवन सब चिन्ताओंसे मुक्त, भगवद्-विश्वासपूर्ण और प्रफुल्लित हो गया है।'

प्रार्थनामें होना चाहिये विश्वास। आप करके देखिये। इसमें कोई हानि तो है ही नहीं। शेष भगवत्-कृपा।

(३)

सिनेमा और फैशनका दुष्परिणाम

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। वर्तमान कालमें सिनेमाके कारण जो महान् पतन हो रहा है और फैशनके लिये हमारी बहू-बेटियोंमें—खास करके पढ़ी-लिखी बहनोंमें जो फिजूलखर्ची बढ़ गयी है तथा उसके कारण जो घोर दुरवस्था हो रही है, उसपर विचार करते ही हृदय काँप उठता है और रोंगटे खड़े हो जाते हैं। सबसे अधिक दुःखकी बात तो यह है कि इसको जीवनका उच्चस्तर या उन्नति बतलाया जाता है। सीता, सावित्रीके देशमें आज स्त्रीका सतीत्व कोई वस्तु ही नहीं रह गया है। पता नहीं भविष्यमें पतनकी यह परम्परा कितनी नीची जायगी और भारतीय पवित्र संस्कृतिका कितना ह्रास होगा। आपने लिखा सो ठीक है—न कला बुरी चीज है, न मनोरञ्जन। बशर्ते कि वह समाज और व्यक्तिके जीवनको उच्चस्तरपर ले जानेवाले हों। जो कला केवल कलाके लिये होती है—समाज तथा व्यक्ति-कल्याणका जिसमें कोई स्थान नहीं होता अथवा जो मनोरञ्जन मनको अनर्गल अवैध विषय-भोगकी ओर प्रेरित करनेवाला होता है, वह 'कला' वस्तुतः 'काल' रूप होती है और वह मनोरञ्जन नारकीय यन्त्रणाकी भूमिका होता है। यह स्मरण रखना चाहिये।

अभी हालमें बम्बईके कोलाबाक्षेत्रमें पुष्पाभवनपर छापा मारकर पुलिसने एक सिनेमा-अभिनेत्रीको पकड़ा था, जो फैशनकी लालसाको पूरा करनेकी धुन और अपने भविष्यकी ऊँची कल्पनामें पगली लड़कियोंसे जघन्य नीच कार्य करवाती थी। इसके यहाँ कुछ ऐसी फैशनेबल लड़कियाँ रहती हैं, जो पढ़ी-लिखी, सुन्दर, ऊँचे स्वप्न देखनेवाली तथा अच्छे घरानोंसे सम्बन्ध रखनेवाली हैं। पुलिसने जासूस नियुक्त करके पूरी छानबीनसे इस अड्डेका पता लगाया और धोबीतालाबके किसी होटलमें ऐसी ही एक और लड़कीको गिरफ्तार किया। यह समाचार अजमेरसे प्रकाशित साप्ताहिक 'नवज्योति' में छपा था। यह तो एक घटना-प्रसङ्ग है; परंतु देशभरमें कहाँ-कहाँ किस-किस प्रकारसे ऐसे कितने पतनके नये-नये रास्ते निकल रहे हैं, उनकी संख्या ही नहीं है। जिस कला और मनोरञ्जनका यह परिणाम हो, उसकी समाजके कल्याणके लिये आवश्यकता बतायी जाय—इसे हमारे देशके दुर्भाग्यके अतिरिक्त और क्या कहा जा सकता

* 'Science of Thought Review', Chichester, Guly, 1959, page 258

है। हमारे भावी आशास्थल नवयुवक और नवयुवतियोंका कितना घोर पतन हो रहा है—इसपर जरा गम्भीरतासे विचार करनेकी आवश्यकता है । शेष भगवत्कृपा।

(४)

दैन्यका सच्चा अर्थ

प्रिय महोदय, सप्रेम हरिस्मरण। आपका कृपापत्र मिला। आपके प्रश्नोंका उत्तर निम्नलिखित है—

दैन्यसे अभिप्राय है—'अभिमानका नाश'। अभिमानी मनुष्यसे दूसरोंका अपमान हुए बिना नहीं रहता। किसी-न-किसी वस्तुको, परिस्थितिको, भावको लेकर वह अपनेको ऊँचा और दूसरेको नीचा समझता है। पर यह अभिमान उसको साधनपथसे गिरा देता है। इसीलिये श्रीचैतन्यदेवने 'तृणादपि सुनीच' होनेके लिये कहा था। जो अपनेको एक राहमें पड़े तिनकेसे भी नीचा माने, उसको किस बातका अभिमान होगा ? यह दैन्य सहज—स्वाभाविक होना चाहिये। दैन्यका भी एक अभिमान हो जाया करता है। 'मेरे जीवनमें कितना दैन्य है, और दूसरे लोग कितने अभिमानी हैं, अतः मैं उनसे अच्छा हूँ—सद्गुणी हूँ'—ऐसा बड़प्पनका भाव मनमें आ जाता है। इससे सावधान रहना चाहिये। मनुष्य भगवान्से प्रार्थना करते समय अपना दैन्य प्रकट करता है; पर उसमें वस्तुतः दैन्यका पता तभी लगता है, जब दूसरा कोई उसके किसी गुणपर आघात करे और वहाँ सहज दैन्यके कारण उसे क्षोभ तो हो ही नहीं, वरं यह ध्यानमें आये कि यह सच कह रहा है, और उसके प्रति सद्भाव हो। ऐसा दैन्य भगवान्को बड़ा प्रिय होता है और भगवत्कृपा-प्राप्ति या साक्षात् भगवत्प्राप्तिका यह एक अमोघ परम सरल साधन है कि अपनेमें सच्चे अर्थमें असमर्थताका बोध होकर दैन्य आ जाय और दीनबन्धु भगवान्की सहज सुहृदता और सर्वशक्तिमत्तामें अखण्ड विश्वास हो जाय। यह होते ही तत्काल भगवत्कृपा प्रकट होकर फलित हो जाती है, उसके सारे पाप कट जाते हैं, वह प्रभुका निजजन बन जाता है और उसे भगवान्की प्राप्ति हो जाती है। जैसे बिजलीके 'ऋणात्मक' या 'अभावात्मक' (Negative) और 'धनात्मक' या 'भावात्मक' (Positive) दो तारोंके मिलते ही विद्युत् उत्पन्न हो जाती है, वैसे ही 'दीनता' और 'सर्वशक्तिमत्ता' अर्थात् 'अभाव' और 'पूर्णत्व' के यथार्थतया मिलते ही परिपूर्णतम परम साध्य भगवान्की प्राप्ति हो जाती है। अतएव अपनेको सच्चे अर्थमें 'दीन' बना ले और भगवान्के अनन्त शक्तिमय सौहार्दमें अखण्ड अनन्य विश्वास कर ले।

दूसरे प्रश्नके उत्तरमें यही कहा जा सकता है कि …………सज्जनकी स्थिति वही जानते हैं और जानते हैं सर्वज्ञ भगवान्। मुझको कुछ भी पता नहीं। हाँ, मुझसे वे अवश्य ही अत्यन्त उच्च हैं, उनके साथ मेरी तुलना करना ही भूल है। वे यदि अमूल्य रत्न हैं तो मैं काँचका एक नगण्य तीखा टुकड़ा हूँ। मेरी बात मैं क्या बताऊँ ? दूसरे क्या कहते हैं, क्या मानते हैं—यह उनकी अपनी दृष्टि है। और उनको मैं समझाने जाऊँ तो वे समझेंगे भी नहीं। पर मेरी अपनी दृष्टिसे मैं सभी साधारण मनुष्योंकी भाँति दुर्बलताओंसे भरा एक मनुष्य हूँ। मुझमें कोई भी विशेषता नहीं है। एक विशेषता है और उसे मैं मुक्तकण्ठसे निस्संकोच स्वीकार करता हूँ कि अकारण कृपालु, स्वभावसे ही सुहृद् सर्वशक्तिमान् भगवान्की मुझपर अनन्त कृपा है, (जो सभीपर है) और उस कृपासे ही मुझे पद-पदपर उसका अनुभव होता है। शेष भगवत्कृपा।

(५)

पापका प्रायश्चित्त—पश्चात्ताप

प्रिय बहिन, सप्रेम हरिस्मरण। आपका पत्र मिला।

आपकी मानस व्यथाका कारण तो बहुत ठीक है, परंतु अब उसके लिये चिन्ता-विषाद करनेमें कोई लाभ नहीं। बचपनमें गलती हो गयी, उसके लिये सबसे बड़ा प्रायश्चित्त तो पश्चात्ताप ही है और वह आपको है ही। अब आपका जीवन परम पवित्र है, कहीं कोई दोष आपमें है नहीं। यही प्रायश्चित्त है। इसपर भी यदि आप और कुछ करना चाहें तो पापनाश तथा प्रभुकृपाके विश्वासके साथ 'हरे राम हरे राम राम राम हरे हरे। हरे कृष्ण हरे कृष्ण कृष्ण कृष्ण हरे हरे ॥'—इस मन्त्रकी सौ माला (प्रत्येक माला १०८ दानोंकी) धीरे-धीरे जप कर लें। इससे आपके पापका नाश हो जायगा।

घरमें या बाहर किसीसे भी, पतिदेवसे भी इस बातकी कभी भूलकर भी चर्चा मत कीजिये। यह उनको धोखा देना नहीं है—उनको दुश्चिन्ता, दुःख और नये भयानक कलहसे बचाना है। मेरे पास एक उदाहरण है—एक बड़े सीधे हृदयकी बहिनने सरलतासे अपने बचपनकी कोई भूल स्वामीको बता दी। वह स्वयं निर्दोष भी थी। परंतु उसकी बात सुनते ही पतिको इतना क्षोभ हुआ कि उसने अपनी संतानवती पत्नीको सदाके लिये घरसे निकाल दिया। वह नितान्त दुखी हो गयी। उसका दस वर्षका सुखी विवाहित जीवन मटियामेट हो गया। पतिको बहुत समझाया भी गया, पर उसका मन नहीं पलटा। अतएव आप अपनी इस बातको कहीं भी प्रकट करनेकी भूल मत कीजियेगा।

अब जीवनको परम पवित्र रखिये। सर्वथा पतिकी अनुगामिनी और सेवापरायण बनकर रहिये। भगवान्के पवित्र नामोंका जप कीजिये। विश्वासपूर्वक भगवत्प्रार्थना कीजिये। भगवत्कृपासे बड़े-से-बड़े पाप नष्ट हो जाते हैं। भगवान्की शरण ग्रहण कीजिये—

सनमुख होइ जीव मोहिं जबहीं।
जन्म कोटि अघ नासहिं तबहीं॥

अतएव अशान्ति और चिन्ताको त्यागकर भगवत्कृपापर विश्वास कीजिये। शेष भगवत्कृपा।

दान दो

भूखे जनको अन्न-दान दो, प्यासेको दो जलका दान।
वस्त्रहीनको वस्त्र-दान दो, मानहीनको सच्चा मान॥
भय-विह्वलको अभय-दान दो, शरणहीनको आश्रय-दान।
शोक-विकलको शान्ति-दान दो, आतुर जनको सेवा-दान॥
दुःख-पतितको धैर्य-दान दो, रोगी जनको औषध-दान।
पथ भूलेको मार्ग-दान दो, दो निराशको आशा-दान॥
ज्ञानहीनको ज्ञान-दान दो, संशयालुको श्रद्धा-दान।
धर्महीनको धर्म-दान दो, नास्तिकको ईश्वरका ज्ञान॥
जो, जिसको, जब आवश्यक हो, करो तभी उसको वह दान।
जो तुम कर सकते हो; पर मत करो कभी उसपर अहसान॥
मत समझो दाता अपनेको, करो न कुछ भी तुम अभिमान।
सविनय करो समर्पण प्रभुको, प्रभुकी वस्तु सहित सम्मान॥

निन्दा महापाप

(लेखक—श्रीअगरचन्दजी नाहटा)

प्रत्येक मनुष्य चाहता है कि उसकी प्रशंसा हो। कोई भी व्यक्ति अपनी निन्दा सुननेको तैयार नहीं, पर दूसरोंकी निन्दा करनेमें हर व्यक्ति तैयार मिलता है। **'आत्मनः प्रतिकूलानि परेषां न समाचरेत्'** इस महान् आदर्श वाक्यके अनुसार मनुष्यको वैसा व्यवहार दूसरेके प्रति नहीं करना चाहिये, जिसे वह अपने प्रति होना नहीं चाहता। अर्थात् जब हम दूसरोंद्वारा की गयी अपनी निन्दाको बुरा समझते हैं, सहन नहीं कर सकते; तब हमें भी दूसरोंकी निन्दा नहीं करनी चाहिये। जैन आगमोंमें निन्दकके लिये कहा गया है कि वह पीठका मांस खानेवाला है अर्थात् पीठ-पीछे दूसरोंकी बुराइयोंको कहकर वह उनके दिल दुखानेवाला है। अतः निन्दा एक तरहसे हिंसाका ही एक प्रकार है; क्योंकि तन, मन, वचनसे किसीका भी किसी तरहसे दिल दुखाना; दिलको या शरीरको चोट पहुँचाना हिंसा है।

संसारमें जितने भी प्राणी हैं, सभीमें कुछ गुण और कुछ दोष रहते हैं। सर्वथा निर्दोष तो परमात्मा या परमेश्वर माना जाता है। शेष सभीमें गुणोंके साथ दोष भी रहे हुए हैं। किसीमें गुणोंका आधिक्य है तो किसीमें दोषोंका। जिसे हम एकदम दोषोंका भण्डार कहते हैं, उसमें भी कोई-न-कोई गुण या विशेषता खोज करने या ध्यान देनेपर अवश्य मिलेगी। इसलिये ज्ञानियोंने कहा है कि निन्दा या आलोचना करनी हो तो अपने दोषोंकी करो, जिससे वे दोष कम हो जायँ या नष्ट हो जायँ। दोषोंके प्रति अरुचि होना; दोषोंको दोषके रूपमें समझना और दोषोंके निवारणमें प्रयत्नशील होना—यही गुणवान् बननेका सरल उपाय है। जितने-जितने अंशोंमें दोष कम होंगे, उतने ही अंशोंमें गुण प्रकट होंगे। मनुष्य गुणी बनना चाहता है, जिससे लोग उसकी प्रशंसा करें; पर दुर्व्यसनों और दोषोंसे छूटनेका पुरुषार्थ नहीं करता, यही उसकी सबसे बड़ी कमी है।

इतना ही नहीं; मनुष्य इससे विपरीत मार्गपर भी चलता है। वह अपनी आलोचना या निन्दा न करके दूसरोंकी निन्दा करता है, जिससे उसे तनिक भी लाभ नहीं होता; अपितु बहुत बड़ी हानि होती है। जिसकी भी निन्दा की जाती है, उससे स्वाभाविक वैर-विरोध बढ़ता है, प्रीति और मैत्री टूट जाती है। वह उसे विरोधी मानकर बदला लेनेका भी प्रयत्न करता है, फिर चाहे सुयोग न मिलनेके कारण वह उसमें सफल न हो सके। निन्दक व्यक्तिको कोई भी अच्छा नहीं मानता; क्योंकि निन्दा एक बुरी आदत है। आज वह किसी एक व्यक्तिकी निन्दा करता है तो कल वह दूसरेकी भी निन्दा करेगा। आज किसी दोषी व्यक्तिकी निन्दा करता है तो कल वह अपनी उस बुरी आदतके कारण या स्वार्थभङ्ग होनेसे निर्दोष व्यक्तिकी भी निन्दा कर बैठेगा। इस निन्दासे उस व्यक्तिके 'अहं' को ठेस पहुँचेगी, जिसकी वह निन्दा करता है; अतएव हानि तो अनेक तरहसे होती ही है, लाभ कुछ भी नहीं होता। यदि किसीके वास्तविक दोषोंकी वह निन्दा करता है तो भी उसकी निन्दासे उस व्यक्तिके दोषोंका सुधार नहीं होगा और यदि किसीकी झूठी निन्दा कर देता है तब तो महान् पाप है ही। दूसरेके दोषोंकी अधिक चर्चा करना, अपनेमें उन दोषोंका प्रादुर्भाव करना है। इसलिये सभी महापुरुषोंने निन्दाको महापाप बतलाया है। संत कबीर कहते हैं—

दोष पराये देख कर, चल्या हसंत हसंत।
अपने च्यंति न आवई, जिनकी आदि न अंत॥
जै कोउ निंदे साधु कूँ, संकट आवै सोय।
नरक माँय जामें मरे, मुक्ति कबहुँ न होय॥
काक बिचारा निंदई, जिन्ह न पाया ज्ञान।
राम नाँव राता रहे, तिनहिं न भावे आन॥
कबीर घास न निंदिये, जो पाँउ तलि हाइ।
उड़ि पड़ै जब आँख में खरी दुहेला होइ॥

अर्थात् 'मनुष्य दूसरोंके दोष देखते हुए हँसता है, पर अपने दोषोंकी ओर तनिक भी ध्यान नहीं देता, जिन दोषोंका आदि-अन्त ही नहीं है। जो व्यक्ति किसी सत्पुरुषकी निन्दा करता है, उसे अवश्य ही संकट मिलेगा, वह नरकमें जन्मेगा और मरेगा, उसे मुक्ति कभी नहीं मिलेगी। संत कबीर कहते हैं कि अपने पैरों-तले पड़े घासकी भी निन्दा न करे; क्योंकि वह छोटा-सा तिनका भी यदि उड़कर आँखमें पड़ जायगा तो तुम्हें बहुत दुःख होगा।' बेचारे अज्ञानी जीव दूसरोंकी निन्दा करते हैं। वास्तवमें उन्हें उसके महान् दोषका

ज्ञान नहीं है। रामके नामको रटनेवालेको तो दूसरेकी निन्दा कभी रुचिकर हो ही नहीं सकती।

हम दूसरोंकी निन्दा न करें, संतोंने केवल इतनी ही शिक्षा नहीं दी, इससे आगे बढ़कर उन्होंने यह भी कहा है कि तुम्हारी निन्दा करनेवालोंके प्रति भी तुम द्वेष या घृणा न करो। वे अज्ञानी व्यक्ति स्वयं ही अपने पैरोंपर कुल्हाड़ी मारते हैं। अतः वे करुणाके पात्र हैं, घृणा और द्वेषके नहीं। यदि हम उनके द्वारा की जानेवाली निन्दाके प्रति ध्यान न दें तो हमारे मनमें कोई बुरा भाव उत्पन्न नहीं होगा। निन्दक तो बिना कुछ लिये ही हमारे पापरूपी मैलको धोकर हमें निर्मल बनाता है। हमारी जिन बातोंकी वह निन्दा करता है यदि वे दोष हमारेमें हैं तो उस व्यक्तिका हमें उपकार ही मानना चाहिये कि उसने हमारे दोषोंको बताकर हमें सजग कर दिया, दोषोंके दूर करनेका मौका दिया। इसीलिये संतोंने कहा है कि निन्दकको दूर न करके अपने नजदीकमें बसाओ, उससे द्वेष न कर उसका आदर करो। संत कबीरने इसी भावको नीचेके पद्योंमें बड़े सुन्दर ढंगसे कहा है—

निंदक नियरे राखियै, आँगन कुटी छवाय।
बिन साबुन बिन पानियाँ, निरमरु करै सुभाय॥
निंदक दूर न कीजियै, दीजै आदर मान।
निरमल तन, मन, सब करै बक बक आन हि आन॥

महाकवि 'समय-सुन्दर'ने अपने निन्दा-परिहार गीत-द्वयमें बड़ा ही सुन्दर प्रबोध दिया है—

(१)

निंदा न कीजै जीव पराई,
निंदा पापई पिंड भराई।
निंदक निश्चय नरकहि जाई,
निंदक चौथउ चंडाल कहाई।
निंदक रसना अपबित्र होई,
निंदक मांस भक्षक सम दोई।
'समय सुन्दर' कहई निंदा न कर जो,
पर-गुण देखि हरख मन धर जो।

(२)

निंदा मत करज्यो कोई नी पारकी रे,
निंदानै बोल्याँ महा पाप रे।
वर बिरोध बाधहि घणा रे,
निंदा करता न गिण माई बाप रे। १।
दूर बलतीं काँ देखो तुम रे,
पगमां बलती देखो सब कोई रे।
परनां मैलमा धोया लुगडा रे,
कहो किम ऊजला होइ रे। २।
आपु सँभालो सबको आपणो रे,
निंदानी मूको परि टेव रे।
थोड़ा घणा अवगुणै सब भरया रे,
केहना नलिया चूयैं करवा नेव रे। ३।
निंदा करइ ते थाय नारकी रे,
तप जप कीधुँ सब जाई रे।
निंदा करो तो करजो आपणी रे,
जिम छुटक वारउ थाय रे। ४
गुण ग्रज्यो सहुको तणो रे,
जिहं मां देखउ एक बिचार रे।
कृष्ण परइ सुख पामस्यो रे,
'समय सुन्दर' कहइ सुखकार रे। ५।

महात्मा बुद्धने कहा है—'जो दूसरोंके अवगुण बखानता है, वह अपना अवगुण बखानता है।' महाभारतमें कहा है—'दुर्जनोंको निन्दामें ही आनन्द आता है। सारे रसोंको चखकर कौआ गंदगीसे ही तृप्त होता है।' तामिलमें कहा गया है—'निन्दक और जहरीले साँप दोनोंके दो-दो जीभें होती हैं।' इसमाइल इबन् अबीबकरने कहा है—'सारे संसारमें विवेक-भ्रष्ट वह आदमी है, जो लोगोंकी निन्दामें दत्तचित्त रहता है, जैसे मक्खी रुग्ण स्थानोंपर ही बैठा करती है।'

अजमेरसे प्रकाशित 'सविता'में निन्दाके सम्बन्धमें बहुत ही अच्छा लिखा गया है कि 'निन्दा एक जघन्य पाप है और है एक भयंकर अभिशाप। निन्दासे जितनी हानि स्वयं निन्दककी होती है, उतनी हानि उन व्यक्तियोंकी नहीं होती, जिनकी निन्दा की जाती है। वे व्यक्ति यदि उदार और समझदार हों तो निन्दकके द्वारा अपने दोषोंकी चर्चा सुनकर निरन्तर अपना सुधार करते रहते हैं और एक दिन नितान्त निर्दोष और निष्पाप बन जाते हैं। यदि वे व्यक्ति क्षुद्राशय होते हैं तो वे बदलेमें अपने निन्दककी निन्दा करने लगते और स्वयं भी निन्दक बन जाते हैं। अपने-अपने निन्दकोंकी निन्दा कर-करके स्वयं भी निन्दक बन जानेसे ही, संसारमें निन्दकोंकी संख्या इतनी अधिक हो गयी है। निन्दा कभी भी सहायता या सुधारके भावसे नहीं की जाती। अपितु क्षुद्राशयता या बदनाम करने-

की दृष्टिसे ही की जाती है। निन्दककी दृष्टि किसीके गुणोंपर नहीं, दोषोंपर ही पड़ती है। निन्दक दोषोंका ही दर्शन करता है, दोषोंका ही बखान करता है और दोषोंका ही चिन्तन करता है और जो जैसा देखता, बोलता, सुनता और सोचता है, वह स्वयं वैसा ही बन जाता है। दूसरोंके दोषोंका दर्शन, वर्णन, श्रवण और चिन्तन करते-करते निन्दक स्वयं दोषोंकी खान बन जाता है, वह स्वयं दोषोंसे भरपूर भर जाता है।'

कई व्यक्ति कहा करते हैं कि 'किसीके वास्तविक दोषोंका वर्णन करनेमें क्या बुराई है? वह तो सच्ची बात है, निन्दा नहीं।' पर यदि किसीके दोषोंको सुधरवानेकी हमारी भावना है तो हम उन दोषोंका प्रकाशन दूसरोंके आगे क्यों करें? उसी व्यक्तिको ही एकान्तमें प्रेमपूर्वक क्यों न समझायें? यदि हम वैसा करते हैं तो वास्तवमें वह एक उपकारका काम है। पर साधारणतया उस व्यक्तिके सामने उसके दोषोंको कहते हमें संकोच या भय होता है और दूसरोंके सामने मूल व्यक्तिके परोक्षमें बढ़ाचढ़ाकर उसके दोषोंका उद्घाटन करते हैं। यह निन्दा ही है। निन्दा और समालोचनामें बड़ा अन्तर है, उसे भी हमें ठीकसे समझ लेना चाहिये। 'सविता' के उपर्युक्त अङ्कमें इस सम्बन्धमें लिखा गया है कि 'निन्दा और समालोचनामें बहुत अन्तर है। निन्दा व्यक्तिकी की जाती है और व्यक्तिगत द्वेषके कारण की जाती है। समालोचना कृति, रचना, सिद्धान्त, मन्तव्य और मान्यताकी की जाती है। ईर्ष्या-द्वेषसे रहित होकर सदाशयताके साथ की जाती है।'

निन्दक और समालोचकमें भी अन्तर है। जो ईर्ष्या-द्वेषके वशीभूत होकर किसीकी व्यक्तिगत निन्दा करता है, वह निन्दक है और जो निष्पक्ष होकर सदाशयताके साथ शालीनतापूर्वक किसीकी कृति, रचना, सिद्धान्त, मन्तव्य या मान्यताकी विवेचना करता है, उसे समालोचक कहते हैं। जब समालोचक समालोचना करता हुआ पक्षपात या द्वेषके कारण निराधार और मिथ्या दोषारोपण करके सम्बन्धित व्यक्तिके व्यक्तित्वपर आक्रमण करता है, तब वह समालोचक समालोचक न रहकर निन्दक बन जाता है और उसकी समालोचना समालोचना न होकर निन्दा हो जाती है।

समालोचना एक परमोत्कृष्ट कला ही नहीं है, एक परम पुनीत साधना भी है। आस्तिक, धर्मात्मा, निरभिमान, अनहंकार, अनासक्त, निःस्पृह, निर्मल साधनाशील, बहुज्ञ और बहुश्रुत जन ही समालोचकके पुनीत आसनको सुशोभित कर सकते हैं। सच्चा समालोचक बनना एक कठिन साधना है, तो सच्ची समालोचना करना एक अलौकिक सिद्धि है।

संक्षेपमें लिखनेका सारांश यही है कि आलोचना हम अपने दोषोंकी करें, दूसरोंके तो गुण ही ग्रहण करें। 'परायी निन्दा करना महापाप है'। इस वाक्यको सदा ध्यानमें रखें।

प्रेम, सौन्दर्य, आनन्दकी सरिता

तेरा मधुर प्रेम, सुभग सौन्दर्य और चिन्मय आनन्द।
छाया मेरी सारी सत्तामें है भरा पूर्ण स्वच्छन्द॥
त्रिविध रूपकी सरिता होकर एक, बढ़ी अति ओर न छोर।
बही बेगसे, प्लावित हो मैं, विवश बढ़ चला तेरी ओर॥
ओत प्रोत हुआ, न रहा अस्तित्व स्वतन्त्र कहीं मेरा।
तेरी ही चेतना, शक्ति, द्युति, भाव-अभाव सभी तेरा॥
है अनन्त आनन्द, प्रेम सीमा-विरहित, सौन्दर्य अपार।
पूर्ण ज्ञान युत परम शान्ति माधुर्य पूर्ण सारा आधार॥
पूर्ण प्रकाशित ज्योति बना यह मूर्तिमान तेरा शुचि धाम।
मुझमें ही तेरी लीलाका बना विलक्षण रूप ललाम॥

पढ़ो, समझो और करो

(१)

पुनर्जन्मका ज्वलन्त प्रमाण

पूर्वजन्मका वृत्तान्त बतलानेवाले अनेक बालक-बालिकाओंके संवाद समाचार-पत्रोंमें निकलते रहे हैं; किंतु मध्य-प्रदेशके छतरपुर नगरमें श्रीमनोहरलाल मिश्र एम्० ए० की सुपुत्री कुमारी स्वर्णलताने पूर्वजन्म-स्मृतिका अत्यन्त विलक्षण उदाहरण प्रस्तुत किया है।

इस बालिकाको दो पूर्वजन्मोंकी स्मृति है। एक जन्ममें वह कटनीमें श्रीहरिप्रसाद पाठककी बड़ी बहन 'बूँदा बाई' थी और दूसरे जन्ममें सिलहटके रमेश-बाबूकी पुत्री 'कमलेश'।

वर्तमान जन्ममें, तीन-चार वर्षकी अवस्थामें अपने ननिहाल जबलपुरसे माता-पिताके साथ पन्ना आते समय कटनीके रेलवे पुलके समीप उसे एकाएक अपने पूर्वजन्मकी स्मृति हो आयी। उसने कहा कि 'कटनीमें हमारे बाबूका घर है, उनके यहाँ अच्छी चाय पीनेको मिलेगी'। किंतु उसके इस कथनपर कोई ध्यान नहीं दिया गया। पन्ना पहुँचकर बालिकाने अपने कटनीवाले घर इत्यादिका पूरा विवरण दिया और अनेक बातें बतलायीं; किंतु मिश्रजी उसकी बातोंको मनोविकृति-जन्य प्रलाप मानकर उसका उपचार कराते रहे।

पाँच वर्षकी अवस्थामें एक दिन उसने अकस्मात् ही एक अन्य पूर्वजन्ममें अभ्यस्त बँगला-भाषासे मिलती-जुलती बोलीके दो गीत नृत्य करते हुए सुनाकर अपनी माताको और भी घबरा दिया। गीतोंकी भाषा न समझ पानेके कारण मिश्रजीने डॉ० डी० एन० मुखर्जी नौ-गाँवको स्वर्णलतासे वे गीत सुनवाये। उन्होंने जाँच करके यही निर्णय दिया कि कन्यामें कोई मानसिक विकृति नहीं है; इसे अपने पूर्वजन्मके बँगलासे* मिलती-जुलती भाषाके गीत याद हो आये हैं।

यह ज्ञात हो जानेपर भी कि स्वर्णलताको पूर्व-जन्मोंकी स्मृति है, झमेलेसे बचनेके लिये मिश्रजी इस ओर उदासीन ही रहे; किंतु प्रो० राजीवलोचन अग्नि-होत्रीकी पत्नीद्वारा स्वर्णलता-कथित पूर्व-जन्म-परिवार-विवरणादिकी पुष्टि होने तथा गतवर्ष तुलसीजयन्ती-उत्सव-पर छतरपुर आये हुए सागर-विश्वविद्यालयके उपकुलपति श्रीद्वारकाप्रसाद मिश्रके इस बालिकाके वृत्तान्तमें श्रीलोकनाथ पटेरियाकी प्रेरणाके कारण अभिरुचि लेनेसे, पूर्वजन्म-विषयक शोध-कार्य करनेवाले अनेक महानुभाव—जैसे श्री एच० पी० पस्तोर 'सोहम्', श्रीहेमेन्द्र बनर्जी, संचालक सेठ सोहनलाल इन्स्टीट्यूट पारासाइकोलाजी गंगानगर राजस्थान इत्यादि इस ओर आकृष्ट हुए। श्रीबनर्जीने कुमारी स्वर्णलताकी वार्ता एवं गीतोंका टेप—रेकार्डिङ्ग किया और कटनीके सम्बद्ध परिवारको सूचना दी।

फलतः कुमारी स्वर्णलताके पूर्वजन्मके छोटे भाई श्रीहरिप्रसाद पाठक (जो अब ६२ वर्षके हैं) छतरपुर आये। स्वर्णलताने उन्हें न केवल पहचान लिया, प्रत्युत उनके प्रश्नोंके तथ्यसम्मत उत्तर देकर उन्हें सचमुच पूर्वजन्मकी बहन होनेका विश्वास भी करा दिया।

पाठकजीने अपने बहनोई ('बूँदाबाई'के पति) मैहरनिवासी श्रीचिन्तामणि पाण्डेयसे जब यह सब हाल कहा, तब वे भी अपने पुत्र मुरलीको लेकर मिश्रजीके पास छतरपुर आये और अनेक कूट प्रश्नोंद्वारा जाँच करके उसी निष्कर्षपर पहुँचे, जिसपर पाठकजी पहले पहुँच चुके थे। अन्ततः दिनाङ्क १२—७—५९ को पाठकजीकी मोटरमें मिश्रजीको सपरिवार मैहर, कटनी और जबलपुर जाना पड़ा और इन सभी स्थानोंपर जिन-जिन महानुभावोंने जो-जो प्रश्न पूछे, उनके सही उत्तर देकर तथा पूर्वजन्ममें सम्पर्कमें आनेवाले अनेक व्यक्तियोंको पहचानकर कुमारी स्वर्णलताने सबको

---

* सिलहट आसाममें है—आसामी भाषा बँगलासे मिलती-जुलती है।

आश्चर्यमें डाल दिया। कटनी और जबलपुरके स्थानीय पत्रोंके अतिरिक्त दि० २१–७–५९ के 'नवभारत टाइम्स'में भी स्वर्णलतासम्बन्धी संवाद छप चुका है।

अभी एक पूर्वजन्मकी स्मृतिकी ही जाँच हुई है। विस्तारभयसे पूरा विवरण यहाँ नहीं दिया जा सका। किंतु जो लोग भारतीय धर्म एवं दर्शनमें श्रद्धा नहीं रखते, उनके लिये स्वर्णलता एक जीती-जागती चुनौती है और परीक्षासे सही प्रमाणित होनेवाली उसकी पूर्व-जन्म-स्मृति पुनर्जन्मका ज्वलन्त प्रमाण है।

—गोकुलप्रसाद त्रिपाठी, एम्० ए०, एल्०टी०, साहित्यरत्न

(२)

बहिनसे घड़ा नहीं उठता था, तब ?

उस दिन बम्बई राज्यके वित्तमन्त्री डा० जीवराज मेहता बड़ौदा गये थे। स्वागत-समारोहके अफसरोंसे घिरे डा० मेहता जब चले जा रहे थे, तब रेलके प्लेटफार्म-पर बने पुलपर एक नारी गोदीमें लिये बच्चेको एक बाँहसे सँभालती, दूसरे हाथसे बड़ा घड़ा सँभाले उस पुलपर जा रही थी। उक्त बहिन घड़ेके उठानेमें तकलीफका अनुभव कर रही थी। वह बड़ी ही कठिनाई-से चल रही थी। डा० मेहता दौड़े और उस बहिनका घड़ा अपने हाथमें उठा लिया। बहिन केवल बच्चेको सँभालते हुए पुलसे उतर गयी। तब डा० मेहताने घड़ा उक्त बहिनको सँभला दिया। × × × लोग भूले न होंगे कि डा० जीवराज मेहता राष्ट्रपिता महात्मा गाँधीके निजी उपचारक भी थे।

जी, उस घड़ेको, उस बहिनके घड़ेको उठाते या सौंपते हुए फोटो खिंचवानेकी अधमताका नाम न मन्त्रित्व है, न देशभक्ति। डा० मेहताका उदाहरण किसी भी राजनीतिक या अराजनीतिक संस्थाको जीव-दान दे सकता है। वह सहानुभूति थी—विशुद्ध, निःस्वार्थ, निरुद्देश्य।

(कर्मवीरसे साभार)

(३)

इनाम देना ही पड़ा

पुरानी बात है। मैं उन दिनों महकमे जंगलातमें कंजर्वेटर ऑव फौरेस्टस्का कैंप क्लर्क था। अल्मोड़ेके बाद रामगढ़में कैंप पड़ा था। सबेरे साहब, मेमसाहिबा, खलासी, चपरासी और लगभग सत्तर-अस्सी कुली भुवालीको चले गये। उनमें एक कुली वह भी था, जो खजानेका बक्स ले गया था। बक्स देनेसे पहले उसमेंसे अठारह रुपये और कुछ आने-पाई दूकानदारका हिसाब चुकता करनेके लिये निकालकर मैंने कोटकी जेबमें डाल लिये थे। मेरे खानेके लिये मेरा निजी नौकर पराँठे बनाकर कटोरदानमें बंद कर चला गया। मेरे साथ यथापूर्व एक चपरासी और सवारीके लिये एक घोड़ा रह गया था।

खाना खाकर मैंने अपने कोटसे रुपये निकाले और दूकानदारको देकर मैं घोड़ेपर सवार होकर चपरासीके साथ चल दिया। लगभग एक फर्लांग चले होंगे कि दूकानदारने आवाज दी—'अरे बाबूसाहब, अरे बाबूसाहब, आप तो वैसे ही चल दिये, कुछ इनाम तो देते जाते।' मैं रुका और जब वह मेरे पास आ गया तब मैंने कहा—'भाई! मेरे पास कौन-सी मद है, जिससे मैं तुम्हें इनाम दूँ। रिश्वत तो मैं लेता नहीं हूँ।'

दूकानदारने एक नोट मेरे हाथपर रखा और कहा यदि इनामका काम किया हो तब तो इनाम दीजियेगा न? हाथपर पचास* रुपयेका नोट रखते हुए, जिसको मैंने दस रुपयेका नोट समझकर बिना देखे उसको दे दिया था। नोट लेकर मैंने उससे कहा कि 'भाई! तुम ही चालीस रुपये लौटा देते, यहाँसे तो खजानेका बक्स सुबह ही भुवाली चला गया है।' इसपर उसने कहा कि 'अमुक कुलीके हाथ भुवाली जाकर भेज देना।' यह कहकर वह अपनी दूकानपर लौट गया। मैंने भुवाली जाकर दूकानदारको १०) रुपये और २) रुपये इनामके भेज दिये। आज कितने दूकानदार इतने ईमानदार मिलेंगे।

—गङ्गाशरण शर्मा, एम्० ए०

* उन दिनों ५०) रुपयेका नोट चलता था और ५०) तथा १०) के नोटमें इतना ही अन्तर था कि पचासके नोटपर Fifty लाल स्याहीसे लिखा रहता था।

(४)

कर्तव्य-पालन

निस्संदेह, कर्तव्य-पालनका पथ कठिनाइयोंसे तो भरा है ही, किसी-किसी प्रसङ्गमें तो आर्थिक दृष्टिसे भी भारी नुकसान उठाना पड़ता है। परंतु अपना उत्तरदायित्व पूर्ण करनेके बाद मनको जो शान्ति मिलती है, उसकी कल्पना तो केवल जिन्होंने कर्तव्य-पालनका ईमानदारीसे प्रयत्न किया होगा, उन्हींको हो सकती है। यहाँ कर्तव्य-पालनके सम्बन्धमें अत्यन्त सावधान लन्दनके एक केमिस्टकी बात करनेका लोभ नहीं रोका जा सकता।

एक दिन उस केमिस्टकी दूकानपर पेन नामक एक आदमी डाक्टरसे नुस्खा लिखवाकर लाये। उसमें एक जहरी दवाका सौवाँ भाग मिलानेके लिये लिखा था। दूकानके कम्पाउण्डरने भूलसे उस दवाका दसवाँ भाग मिला दिया। श्रीपेन दवा लेकर चले गये।

थोड़ी ही देर बाद कम्पाउण्डरको अपनी भूलका ध्यान आया कि उसकी कैसी भयानक भूल हो गयी है। उस दवाकी एक खूराक लेनेके साथ ही रोगी स्वर्गका प्रवासी बन जायगा। उसने तुरंत केमिस्टको इसकी सूचना दी और केमिस्टने पुलिसको इत्तिला दी। पुलिस अधिकारीने कहा—'आप तुरंत फोन अथवा तारके द्वारा श्रीपेनको सूचित कर दीजिये कि वे दवा न लें।' परंतु केमिस्टके रजिस्टरमें श्रीपेनका पता नहीं लिखा गया था और नुस्खा लिखकर देनेवाले डाक्टरको भी श्रीपेनका पता मालूम नहीं था। टेलीफोन डाइरेक्टरी देखनेपर दर्जनों श्रीपेन मिले। पुलिसकी सम्मतिके अनुसार प्रत्येक 'श्रीपेन'को एक-एक तार दिया गया—'श्रीपेन! उन गोलियोंको आप खानेके उपयोगमें न लीजियेगा।' इसके बाद संध्याको प्रकाशित होनेवाले तमाम समाचारपत्रोंमें पहले पृष्ठपर मोटे-मोटे टाइपोंमें विज्ञप्ति छपायी गयी—'श्रीपेन! उन गोलियोंको आप खानेके उपयोगमें न लीजियेगा।' उसी दिन सिनेमा-गृहों और थियेटरोंमें भी स्लाइडोंके द्वारा यह प्रचार किया गया—'श्रीपेन! उन गोलियोंको खानेके उपयोगमें न लाइयेगा।' सारा लन्दन हैरान-परेशान हो गया और यह जाननेके लिये आतुर हो गया कि ये 'श्रीपेन' कौन हैं और ऐसी क्या गोलियाँ हैं, जिनको खानेके उपयोगमें न लेनेके लिये इतना कहा जा रहा है?

दूसरे दिन असली 'श्रीपेन' महाशयका पत्र उस केमिस्टको मिला। उसमें उन्होंने अत्यन्त कृतज्ञता प्रकट करनेके साथ ही लिखा था—'मैंने उन गोलियोंको खानेके उपयोगमें न लेनेकी विज्ञप्ति पढ़ी और उसके अनुसार मैंने गोलियोंका उपयोग नहीं किया है।' इस पत्रके मिलनेके बाद ही उस केमिस्टका जी ठिकाने आया।

दूसरी ओर, जब लन्दन शहरके लोगोंको पूरा विवरण जाननेको मिला, तब उनके मनमें उस केमिस्टके प्रति बहुत ही आदरकी भावना उत्पन्न हुई। परिणाम यह हुआ कि उस केमिस्टका व्यापार कई गुना बढ़ गया।

('प्रताप'से साभार)

(५)

श्रीहनुमान्‌जीकी कृपासे रक्षा

कई वर्षों पहलेकी बात है, मैं अपने कर्मचारी श्रीकमालुद्दीन सरकारके साथ रिक्शेपर सवार होकर स्टेशनकी ओर जा रहा था; रातके लगभग साढ़े दस बजे थे। मेरी कमरमें छः हजार रुपये थे और सरकारके पास तीन हजार। कुल नौ हजार रुपये साथ थे। हमलोग कपड़ा खरीदने ढाका जा रहे थे। जब बीच बाजारमें श्रीअगरचन्दजी नाहटाकी गद्दीके पास तीन आदमी साइकलपर सवार हमारे पीछे हो गये, तब मुझे डर लगा और मैंने श्रीहनुमान्‌जी महाराजके नामकी धुन लगा दी। सोचा कि अभी सामने फणिबाबूकी दूकान आयेगी, वहाँ ठहर जायँगे। पर भूलसे हमलोग फणिबाबूकी दूकान छोड़कर आगे निकल गये। हमें

पता ही नहीं लगा। वे तीनों डाकू हमारे पीछे लगे थे और टार्चसे बहुत तेज रोशनी हमारे रिक्शेपर फेंक रहे थे। मैं सब ओर श्रीहनुमान्‌जी—बाबा बजरंगबली-को देखने लगा और उनका नाम पुकारने लगा। मनमें सोच रहा था कि श्रीहनुमान्‌जीने हरेक संकटसे हमारी रक्षा की है तो इस संकटसे भी वे अवश्य बचायेंगे। इतनेमें घना जंगल आ गया। उनमेंसे एकने बड़े जोरसे अस्पष्ट आवाज दी। मेरे तो प्राण ही मानो निकले जा रहे थे। मैंने बड़े जोरसे बजरंगबलीका नाम पुकारना शुरू कर दिया। इसी बीचमें मुझे डाकुओंकी टार्चकी रोशनीमें अचानक रास्तेके बगलमें आठ-दस बैलगाड़ियाँ दिखायी दीं। अब मुझे साहस हुआ और बचनेका भरोसा हो गया। डाकुओंने भी गाड़ियोंको देखा और शिकार हाथसे निकल गया समझकर वे वहींसे लौट गये।

मैंने रिक्शेवालेसे कहा—'गाड़ियोंके साथ-साथ चलो।' वह चलने लगा। थोड़ी ही देरमें इयासिन सलाहीकी गद्दी तथा दूकान दिखायी दी और स्टेशन भी सामने दीखने लगा। रिक्शा रुका। आश्चर्यकी बात तो यह हुई कि जो आठ-दस बैलगाड़ियाँ थीं और प्रत्येक गाड़ीपर एक-एक गाड़ीवान थे, वे हमें दिखायी नहीं दिये। न तो वे गाड़ियाँ स्टेशनकी ओर गयीं, न वहाँसे एक रास्ता डोमारकी ओर जाता था, उस रास्तेपर गयीं और न वापस ही लौटीं। क्या हुआ, कुछ समझमें नहीं आया। हमने तो समझा यह सब बाबा हनुमान्‌जी-की कृपा थी। हमलोग स्टेशन सकुशल पहुँच गये। रिक्शेवालेके हाथ दूकानपर मेरे छोटे भाई रामलालके नाम मैंने एक चिट्ठी लिखकर भेज दी; जिसमें बाबाकी कृपासे बचनेकी बात लिखी थी।

इधर हमलोगोंके दूकानसे चलनेके बाद हमारे एक मित्रने मेरे भाईके पास जाकर पूछा कि आज तुम्हारे यहाँसे कोई बाहर तो नहीं गया है न? यदि गया है तो बड़ा खतरा है; क्योंकि हमें अभी पता चला है कि तीन बदमाश एक रिक्शेके पीछे गये हैं और रिक्शेपर हमला होनेवाला है।'

मेरे भाईने उनको सब हाल बताया और चिन्तातुर होकर दूकान खोले वह रास्तेकी ओर ताकता बैठा रहा। उसने सोचा, दुर्घटना तो हुई ही होगी। शायद भाईको अस्पताल ले जाना पड़े। इतनेमें मेरी चिट्ठी लेकर रिक्शेवाला उसके पास पहुँचा। चिट्ठी पढ़नेपर उसे शान्ति मिली और उसने रिक्शेवालेको मिठाई खिलायी। तबसे वह भी बजरंगबली बाबा हनुमान्‌जीका नाम जपने लगा।

—रामकृष्ण बिहानी निलफामारी

(६)

सच्चा न्यायाधीश

एक न्यायाधीश थे। वे सबका सच्चा न्याय करते। कहते कि 'न्यायका काम भगवान्‌का काम है, इसमें जरा भी पक्षपात नहीं किया जा सकता, जरा भी लापरवाही नहीं की जा सकती। दोनों पक्षोंकी बातोंको अच्छी तरह सुनना, फिर न्यायको तौलना। न्यायकी डंडी समतौल रहनी चाहिये। जरा भी ऊँची-नीची न होनी चाहिये।'

एक बार इनके पास एक मुकदमा आया। दो पैसेवालोंमें झगड़ा था। जीतनेवालेको लाखोंकी मिल्कियत मिलनेवाली थी।

इनमें एकके मनमें आयी कि न्यायाधीशको राजी कर लूँ तो फैसला मेरे पक्षमें हो जाय। लाख रुपया लेकर एक रात्रिको वह न्यायाधीशके घर पहुँचा।

उसने जाकर कहा—आपके लिये यह भेंट लाया हूँ, साहेब! लाख रुपये हैं। आपकी अदालतमें वह मुकदमा चल रहा है न! उसका फैसला जरा मेरे पक्षमें कर दीजियेगा। बस!

यह सुनते ही न्यायाधीशने कहा—न्यायको गंदा करने आये हैं आप? क्यों! ले जाइये ये रुपये। न्याय जैसे होता होगा, वैसे ही होगा।

पैसे देनेवालेको अपने पैसेका अभिमान था। फिर हाथमें आये हुए लाख रुपये कोई छोड़ दे, यह उसकी समझमेंही नहीं आ रहा था। इससे उसने कहा—'साहेब! कोई सौ-दो-सौ रुपये नहीं हैं, लाख रुपये हैं। ऐसा लाख रुपये देनेवाला दूसरा कोई नहीं मिलेगा।'

न्यायाधीशने तुरंत जवाब दे दिया—लाख रुपये देनेवाले तो आप-जैसे बहुतेरे मिल जायँगे, पर मेरे-जैसा 'ना' करनेवाला कोई नहीं मिलेगा। जाओ! उठा ले जाओ इस मैलको यहाँसे!

यह सुनकर वह भयभीत हो गया। एक भी अक्षर बिना बोले रुपये लेकर चुपचाप अपने रास्ते चला गया।

इन न्यायाधीशका नाम है—अंबालाल साकरलाल देसाई। ये गुजरातप्रान्तीय एक महान् भारतीय थे।

('पुस्तकालय'से साभार)

(७)

पक्षीपर दया

एक फ्रेंच लड़का रोलफोनस् जंगली जानवरोंसे, खास करके पक्षियोंसे बहुत प्रेम करता है। उसका सबसे अधिक प्यार है आकाशमें गाती हुई उड़नेवाली लवा (Skylark) नामक चिड़ियासे। एक दिन वह रास्तेसे जा रहा था, उसको लार्कका संगीत सुनायी पड़ा। उसने आस-पास देखा तो उसे दिखायी दिया कि एक चिड़िया बेचनेवालेके पिंजरेसे वह ध्वनि आ रही है। उसे लगा—इस गानमें दुःख भरा है। वह चिड़िया बेचनेवालेके पास गया तो उसे पता लगा कि वहाँके लोग इस चिड़ियाका मांस खाना बहुत पसंद करते हैं और वह इसीलिये बेचने लाया है। लड़केने उसके दाम पूछे, पर उतने पैसे उसके पास नहीं थे। लड़केने उससे कहा, 'भाई, तुम ठहरो, मैं अभी घरसे पैसे लेकर आता हूँ।' उससे यों कहकर लड़का दौड़ा हुआ घर गया। दुपहरीकी बड़ी तेज धूप पड़ रही थी। घर जानेपर पता लगा कि मा बाहर गयी है और वह भोजनके समयसे पहले नहीं लौटेगी। रोलफोनस्को बड़ा दुःख हुआ। उसने सोचा तबतक तो वह लार्क बिक जायगी और काट भी दी जायगी। उसे दयालु धर्मगुरु जैक्स Father Jacques की याद आयी और वह तुरंत दौड़ा हुआ श्रीजैक्सके पास पहुँचा। बड़ी तेज धूप थी और उसके सिरमें दर्द हो रहा था, पर उसने कुछ भी परवा नहीं की। रोलफोनस्ने सारा हाल सुनाकर पादरी महोदयसे बड़े करुण-स्वरमें कहा कि 'शीघ्र पैसे नहीं मिलेंगे तो लार्कके प्राण बचने सम्भव नहीं हैं।' दयालु पादरी जैक्स महोदयने रुपये देते हुए लड़केसे कहा—'तुम इस कड़ी धूपमें दौड़-धूप करके बीमार हो गये हो, मैं तुम्हें इसी शर्तपर रुपये देता हूँ कि तुम तुरंत चिड़िया खरीदकर ले जाओ और सीधे घर जाकर आरामसे पलंगपर लेट जाओ।'

लड़केने शर्त स्वीकार कर ली और रुपये लेकर तुरंत वहाँ पहुँचा। जाकर देखा तो एक मेमसाहेब लार्कको खरीदनेके लिये मोल-तोल कर रही थी और उसके मुँहपर पानी आ रहा था। रोलफोनस्ने तुरंत रुपये हाथमें देकर पिंजरा ले लिया। लार्कको मानो प्राणरक्षक प्रेमी बन्धु मिल गया। वह पिंजरा लिये घर पहुँचा और घरमें घुसते-घुसते गरमीके कारण बेहोश होकर बाहर बगीचेके दरवाजेपर गिर पड़ा।

पादरी महोदयको लड़केकी बड़ी चिन्ता थी। वे देखने आये तो देखा बेहोश लड़केके बिछौनेके पास बैठी उसकी मा भयभीत हुई रो रही है। पादरीने उसको धीरज दी और कहा—'तुम घबराओ नहीं, जो दूसरेको बचाता है, उसे भगवान् बचाते हैं।' लड़केने एक बार आँखें खोलीं, पर वह फिर बेहोश हो गया। होश आनेपर उसने देखा लार्क पक्षीका पिंजरा टेबलपर रखा है और वह ऐसा मीठा स्नेहभरा करुण गीत गा रहा है मानो बेहोश लड़केको बचानेके लिये ईश्वरसे प्रार्थना कर रहा हो।

कुछ देरमें लड़का स्वस्थ हो गया और उसने

उठकर पिंजरेको बड़ी खिड़कीके पास ले जाकर खोल दिया। पक्षी गाता हुआ मुक्त आकाशमें उड़ चला। वह अपनी प्रेमभरी चितवनसे अपने प्राणरक्षक उस लड़केकी ओर कृतज्ञताभरे हृदयसे देखता गया।*

—श्रीनिवासदास पोद्दार

(८)

गरीबकी दुवा

गरीबोंको चूसकर इकट्ठा किया हुआ पैसा नहीं टिकता और इस तरह मालदार बना हुआ मनुष्य पैसेका सुख भी नहीं भोग सकता। कुदरतके इस न्याय-पर बात चल रही थी। सभी अपनी-अपनी जानकारीके उदाहरण देकर इसका समर्थन कर रहे थे।

जिनके घर हमारी यह मण्डली इकट्ठी हुई थी, वे मूलमें व्याजका व्यापार करते थे और अच्छे पैसे कमानेके बाद दूसरे व्यापारमें भी सफलता पा चुके थे।

'तो भाई, आपके सम्बन्धमें क्या समझें?' मैंने यह सीधा प्रश्न किया। सब लोग शान्तिके साथ उत्तरकी प्रतीक्षा करने लगे।

हमारे बाप-दादाका व्यापार था व्याजपर रकम उधार देना। पिताजीके मरनेके बाद मेरे बड़े भाईने इस व्यापारको सँभाल लिया। हमारा संयुक्त कुटुम्ब था।

एक दिन मैं बाहरसे घर लौटा तो मैंने देखा कि एक गरीब-सा आदमी बड़े भाई साहेबसे प्रार्थना करता हुआ पुराना हिसाब चुकता करनेके लिये कह रहा है। खातेमें बाकी निकलते हुए पूरे रुपये लिये बिना बड़े भाई हिसाब चुकता करनेके लिये तैयार नहीं थे। इस आदमीने मूलमें पाँच सौ रुपये व्याजपर उधार लिये थे। व्याजसमेत कुल लगभग एक हजार रुपये भर देनेपर भी अभी सात सौ रुपये उसके नाम बाकी पड़ रहे थे। मुझे यह आदमी सच्ची नीयतका और बिल्कुल गरीब स्थितिका लगा। वह दो सौ रुपये लाया था और इसीमें खाता चुकता करनेके लिये गिड़गिड़ा रहा था। बड़े भाई साहेब एक पाई भी कम लेनेको तैयार नहीं थे। उनके सामने मेरा कुछ बोलना उचित नहीं लगता था। पर इस परिस्थितिने मेरे मनमें बड़ी हलचल मचा दी थी।

भोजनका समय होनेपर बड़े भाई उठे और उसको यह कहते गये कि 'पूरे पैसे देने पड़ेंगे, नहीं तो रुपये बसूल करनेके लिये दावा किया जायगा।'

वह गरीब ग्रामीण जमीनकी ओर देखता बैठा रहा। मैं भी उसके सामने जडवत् बैठा था। कुछ देर बाद मैंने उस आदमीको आँखोंसे आँसू पोंछते देखा। सचमुच वह रो रहा था। मेरे दिलपर मानो हथौड़ेकी चोट लग रही हो, ऐसा लगा। एक ओर बड़े भाई साहेबका डर था, दूसरी ओर इस गरीबके प्रति अनुकम्पा थी। क्या किया जाय? समय कम था। मैंने निर्णय कर लिया। पासकी अलमारीसे मैंने बही निकालकर उसका खाता देखा तो पता लगा कि असली रकमके अतिरिक्त बहुत अच्छी रकम ब्याज पेटे जमा थी। उसके लाये हुए दो सौ रुपयेमें केवल सौ ही रुपये लेकर मैंने उसके देखते-देखते खाता चुकता करके उसे फाड़खती दे दी और जानेके लिये कह दिया। उस दिन बड़े भाई महोदयका क्रोध मुझपर खूब ही उतरा, तथापि मुझे एक शुभ कार्य करनेका संतोष था। उसके बाद आजतक मैंने अपनी कमाईके सिवा कभी किसी भी गरीबका दिल दुखाया हो, यह मुझे याद नहीं है और आप देख रहे हैं कि मेरे जीवनमें आज संतोष है। (**अखण्ड आनन्द**)

—के. एच० व्यास

* यह घटना—**Animals Defender and Anti-vivisection News, 27 Palace Street, London** में श्रीकारलोट्टा कार महोदयने लिखी है। इस घटनाको पढ़कर हमारी दशापर बड़ा दुःख होता है। भारतमें आज प्रतिदिन सहस्रों गायोंका निर्दय बध होता है। करोड़ोंकी लागतके कसाईखाने खोले जाते हैं, जहाँ जीवित गौ-बछड़ोंकी खालें उतारी जाती हैं (देखिये कलकत्ता 'सन्मार्ग' ता० १४। ८। ५९)। बंदरोंको मारनेके लिये विदेश चलान किया जाता है। कहाँतक कहा जाय। सबमें एक आत्माको देखनेवाले धर्मप्राण भारतकी यह दुर्दशा! कितना अधःपतन है!

श्रीहरिः

पाँच नयी पुस्तकें ! *प्रकाशित हो गयीं !!*

महाभारतकी नामानुक्रमणिका

भूमिका-लेखक—डा० वासुदेवशरण अग्रवाल एम्० ए०, डी० लिट्०

आकार २२×३० आठपेजी, कागज ३० पौंडके मोटे ग्लेज, पृष्ठ-संख्या ४१६, मूल्य २।।), पूरे कपड़ेकी जिल्दसहित ३।।), डाकखर्च अजिल्दका १।=) सजिल्दका १।।-) ।

इसमें महाभारतमें आये हुए लोक, द्वीप, देश, नगर, जनपद, समुद्र, नद, नदी, सरोवर, कुण्ड, तीर्थ, वन, पर्वत, देवता, देवी, मातृका, यक्ष, गन्धर्व, नाग, नक्षत्र, अप्सरा, राक्षस, असुर, दैत्य-दानव, ऋषि-मुनि, राजा, अन्यान्य मनुष्य, स्थान, वस्तु, पर्व आदिके नाम तथा कौन नाम कहाँ किस प्रसङ्गमें आया है, इसके उल्लेखसहित सबकी अनुक्रमणिका दी गयी है।

जबसे यह मासिक-महाभारतके तीसरे वर्षके अन्तिम अङ्कोंमें निकली थी, तभीसे इसको अलग पुस्तकाकार प्रकाशित करनेकी माँग थी। एक प्रसिद्ध विद्वान्‌ने तो इसको महाभारतका 'कल्पवृक्ष' बतलाया था। इसमें यथासाध्य पूरे नाम देनेका प्रयत्न किया गया है। इसकी भूमिका प्रसिद्ध दार्शनिक तथा साहित्यिक विद्वान् आदरणीय डा० श्रीवासुदेवशरणजी अग्रवाल एम्० ए०, डी० लिट्० महोदयने लिखी है।

महाभारतके अनुसंधानकर्त्ता विद्वानोंको तथा कौन कथा किस प्रसङ्गमें कहाँ है, यह जाननेकी इच्छावालोंको इससे विशेष सुविधा होगी। महाभारतके प्रेमी पाठकगण इससे लाभ उठानेकी कृपा करेंगे।

महाभारत-परिचय

[अन्तरङ्ग और बहिरङ्ग]

(महाभारतके सम्बन्धमें विद्वानोंके महत्त्वपूर्ण निबन्ध)

भूमिका-लेखक—पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा

आकार २२×३० आठपेजी, कागज ३० पौंडके मोटे ग्लेज, पृष्ठ-संख्या २५६, मूल्य १।।।), सजिल्द २।।), डाकखर्च अजिल्दका १=), सजिल्दका १।-) ।

महाभारतका बहिरङ्ग और अन्तरङ्ग परिचय देनेवाले कुछ महत्त्वके समीक्षात्मक लेख मासिक-महाभारतके तीसरे वर्षके अन्तिम अङ्कोंमें प्रकाशित हुए थे, तभीसे इनके महत्त्व और उपयोगिता-को देखते हुए इनका एक संग्रह पुस्तकाकार प्रकाशित करनेका विचार था। इस संग्रहमें महाभारतके प्रधान पात्रों तथा महाभारतमें आये हुए कुछ प्रसङ्गोंका परिचय दिया गया है। साथ ही महाभारतके मूल स्वरूप, उसकी श्लोक-संख्या तथा रचनाकालके सम्बन्धमें भी विचार किया गया है और सबसे महत्त्वपूर्ण विषय है—'महाभारतमें भगवान् श्रीकृष्णका स्वरूप तथा लीलाकार्य, जिसका महाभारतके आधारपर ही यथेष्ट परिचय दिया गया है।

महाभारतके प्रधान पात्रोंमें—भीष्मपितामह, धर्मराज युधिष्ठिर, महाबली भीमसेन, श्रीकृष्ण-सखा अर्जुन, महावीर युवक अभिमन्यु, भगवान् वेदव्यास, गुरु द्रोणाचार्य, महात्मा विदुर, दिव्य-दृष्टि संजय, वीर सात्यकि, कुरुराज धृतराष्ट्र, राजा दुर्योधन, महावीर कर्ण, पतिव्रता गान्धारी, माँ कुन्तीदेवी तथा देवी द्रौपदीका परिचय दिया गया है। इसके अतिरिक्त आचार्य श्रीअक्षयकुमार वन्द्योपाध्याय, स्व० श्रीचिन्तामणि राव वैद्य, पं० श्रीदीनानाथजी शर्मा, पं० श्रीगङ्गाशङ्करजी मिश्र, पं० श्रीजानकीनाथजी शर्मा, पं० श्रीकरुणाशङ्करजी शास्त्री, पं० श्रीइन्द्रनारायणजी द्विवेदी तथा श्री-जयदयालजी गोयन्दका आदिके विद्वत्तापूर्ण निबन्ध हैं।

आशा है कि इस महत्त्वपूर्ण संग्रहसे जिज्ञासु पाठक-पाठिकाएँ लाभ उठानेकी कृपा करेंगे।

चित्रोंमें—महाभारतके प्रमुख पात्र

(रंगीन ६ तथा सादे १७—कुल २३)

बढ़िया आर्टपेपरपर सुन्दर छपे हुए १० इञ्च×७॥ इञ्च साइजके महाभारत-सम्बन्धी २३ चित्रोंके इस संग्रहका मूल्य १) मात्र। डाकखर्च ।||=) ।

चित्रोंके नाम—वीर वेषमें श्रीकृष्ण, भीष्मपितामह, गुरुद्रोणाचार्य, महात्मा विदुर, महाराज धृतराष्ट्र, दिव्यदृष्टि-प्राप्त संजय, महाराज द्रुपद, धर्मराज युधिष्ठिर, महाबली भीमसेन, शरणागत अर्जुन, माद्रीपुत्र नकुल, माद्रीपुत्र सहदेव, वीरवर सात्यकि, सेनापति धृष्टद्युम्न, सुभद्रापुत्र अभिमन्यु, भीमपुत्र घटोत्कच, राजा दुर्योधन, सेनापति कर्ण, दुर्द्धर्ष दुःशासन, आचार्यपुत्र अश्वत्थामा, सती गान्धारी, मा कुन्ती और देवी द्रौपदी है ।

शिक्षाप्रद पत्र

(लेखक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

आकार २०×३० सोलहपेजी, पृष्ठ २४२, सदाशिवका सुन्दर रंगीन चित्र, मूल्य ||) डाकखर्च |||) ।

इस पुस्तिकामें लेखकके द्वारा समय-समयपर सत्संगी भाइयोंके नाम लिखे हुए ७० पत्रोंका संग्रह है। इनमें अभ्यास-वैराग्य, विवेक-विचार, जप-ध्यान, सत्संग-स्वाध्याय, भगवद्गुणगान-कीर्तन, स्तुति-प्रार्थना, संयम-सेवा, सद्गुण-सदाचार, मनोनिग्रह, श्रद्धा-प्रेम, भक्ति-ज्ञान, कर्म-रहस्य, व्यापार-सुधार, पारस्परिक व्यवहार-सुधार, स्त्री-शिक्षा एवं ईश्वर, महात्मा, परलोक, गीता, रामायण, महाभारत, इतिहास-पुराण आदि विषयोंमें उत्पन्न अनेक शङ्काओंका निराकरण किया गया है ।

यह पुस्तक बालक-वृद्ध, स्त्री-पुरुष, विद्वान्-अविद्वान् सभीके लिये उपयोगी है ।

चतुःश्लोकी भागवत

(अन्वय, अन्वयार्थ और व्याख्यासहित)

(अनुवादक—श्रीजयदयालजी गोयन्दका)

पृष्ठ-संख्या २०, मूल्य)॥ मात्र । पूर्वकालमें भगवान् विष्णुने ब्रह्माजीके प्रति इन चार श्लोकोंमें श्रीमद्भागवतका दिग्दर्शन कराया था ।

☛ पुस्तकोंका आर्डर यहाँ भेजनेके पहले अपने स्थानके पुस्तक-विक्रेतासे पूछिये। भारतवर्षके लगभग १५०० पुस्तक-विक्रेताओंके यहाँ हमारी पुस्तकें छपे दामोंपर मिल सकती हैं । उनके यहाँसे पुस्तकें खरीदनेपर आप भारी डाकखर्चसे बच सकते हैं । दिल्ली, कानपुर, पटना, वाराणसी, कलकत्ता, हरिद्वार तथा ऋषिकेशमें तो हमारी निजी दूकाने हैं ।

व्यवस्थापक—**गीताप्रेस, पो० गीताप्रेस (गोरखपुर)**

भूल-संशोधन

कल्याणके गताङ्कमें 'स्वयंप्रकाश ब्रह्मसुख' शीर्षक लेख छपा था, उसमें प्रूफ देखनेकी भूलसे कुछ अशुद्धियाँ छप गयीं । पाठकगण कृपया नीचे लिखे अनुसार सुधार कर लें तथा इस त्रुटिके लिये सम्मान्य लेखक महोदय और पाठकगण कृपया क्षमा करें—

पृष्ठ	११०१	कालम	१	पंक्ति	५	में छपे	'आकारभावकी' को	'आकाराभावकी'	पढ़ें ।
पृष्ठ	११०३	,,	१	,,	२१	,,	'स्वप्नदृष्टिकी'को	'स्वप्न दृष्टिकी'	पढ़ें ।
पृष्ठ	११०३	,,	१	,,	३३	,,	'दैशिक परिणाम'को	'दैशिक परिमाण'	पढ़ें ।
पृष्ठ	११०३	,,	१	,,	३३	,,	'परिणाम मानना'को	'परिणममानता'	पढ़ें ।

—सम्पादक